मई १९७३

चुक्का

तुलसी मानस प्रकाशन

हरिकिशनदास अग्रवाल द्वारा लिखित

संक्षिप्तरूप में आधुनिक ढंग से आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करने वाली जीवनोपयोगी पुस्तकें

१. संसार का सार (हिन्दी में) ३–००
२. ज्ञान साधना : २–००
३. विज्ञान से ज्ञान : १–००
४. वेदान्त-नवनीत : २–००
५. वेदान्त का सरल बोध : २–००
६. आध्यात्मिक पिक्टोरियल (हिन्दी व अंग्रेजी) : ४–००
७. आध्यात्मिक डायरी १९७३ ७–५०
८. आध्यात्मिक चित्रावली (हिंदी-इंग्लिश) पाकेट बुक ६–००
९. मुमुक्षु (शिक्षाप्रद उपन्यास) ५–००
१०. मन की शांति (पद्य) : अंग्रेजी 'पीस ऑफ माइंड' का हिन्दी अनुवाद ४–००
११. हमारी परंपरा : २–००
१२. आराम सुख शांति और आनंद : १–००
१३. Ease Peace Happiness and Bliss (English) 0–25
१४. अपनी ओर इशारा : १–००
१५. व्यवहारिक जीवन और परमात्मा : १–००
१६. श्मशान यात्रा : १–००
१७. मेरे १०८ गुरु : ३–००
१८. सजगता : १–००
१९. अविरोध-निरोध और स्वबोध : २–००
२०. वेदान्त का वैज्ञानिक मनन: २–००
२१. चिंता और निश्चिंतता : २–००
२२. मन के पार : विकट प्रश्नों पर आचार्य श्री रजनीश जी के उत्तर : १–००
२३. घर-घर की समस्या : २–००
२४. पीस आफ माइन्ड : (अंग्रेजी में) ५–००
२५. क्वायटर मोमेन्ट्स : (अंग्रेजी में) : २–००
२६. मनन योग्य बातें : १–००
२७. उनके सान्निध्य में : २–००
२८. जाग रे जाग ४–००
२९. जाग्रत-जाग्रत : ००–५०
३०. आधुनिक वेदान्त : २–००
३१. आंखों देखी २–००
३२. बात-बात में बात ३–००
(आध्यात्मिक उपन्यास)
३३. अध्यात्म–नवनीत २–००
३४. साधना शिविर ३–००
३५. 'मनन' आध्यात्मिक मासिक वार्षिक शुल्क : ५–००

ग्राहक एवं एजेन्ट्स एवं पुस्तक विक्रेता पत्र-व्यवहार करें

तुलसी – मानस – प्रकाशन

अन्तर्गत विभाग केबल मार्केटिंग कम्पनी

गुप्ता मिल्स स्टेट, रे रोड, बम्बई–१०

भगवान रजनीश की सृजनात्मक
युग क्रांति दर्शन की मासिक
संकलन पत्रिका

मई १९७३

युगान्तर

वर्ष – ४ अंक – २१ : २२

मूल्य एक प्रति : १-०० रु.
„ वार्षिक : १२-०० रु.

युक्रान्द

मई '७३

— मानसेवी सम्पादक मण्डल —

अरविन्द कुमार

सुश्री डा. उर्मिला 'आकुल' राजेन्द्र

आलोक पाण्डे

व्यवस्थापक : स्वामी धर्म सरस्वती

अनुक्रमणिका

कण-कण अमृत	३	भगवान श्री के बोधवचन
मुल्ला नसरुद्दीन	४	व्यंग-बोध
सत्य के साथ खड़ा होना	६	स्वामी दयाल भारती,
आग में जलना है		जबलपुर
मेरी संन्यास यात्रा	३२	साधु सत्य धर्म, जूनागढ़
महावीर मेरी दृष्टि में	३६	संक्षिप्त सं. : 'आकुल' राजेन्द्र
माउण्ट आबू शिविर ५ :	४०	स्वामी अगेह भारती
विराट भागवत लीला		जबलपुर
अज्ञात के नये आयाम	४८	संकलन : अरविन्दकुमार

गीत : काव्य

एकोऽहं बहुस्याम्	३०	स्वामी योग प्रीतम भीलवाड़ा, राजस्थान
आज फिर	३१	स्वामी अगेह भारती, जबलपुर

स्वत्वाधिकारी प्रकाशक : अरविन्द कुमार, ७९०, राइट–टाउन, जबलपुर.

मुद्रण : अशेष प्रिंटर्स, ७८१, राइट-टाउन, जबलपुर. ☎ 2957 P.P.

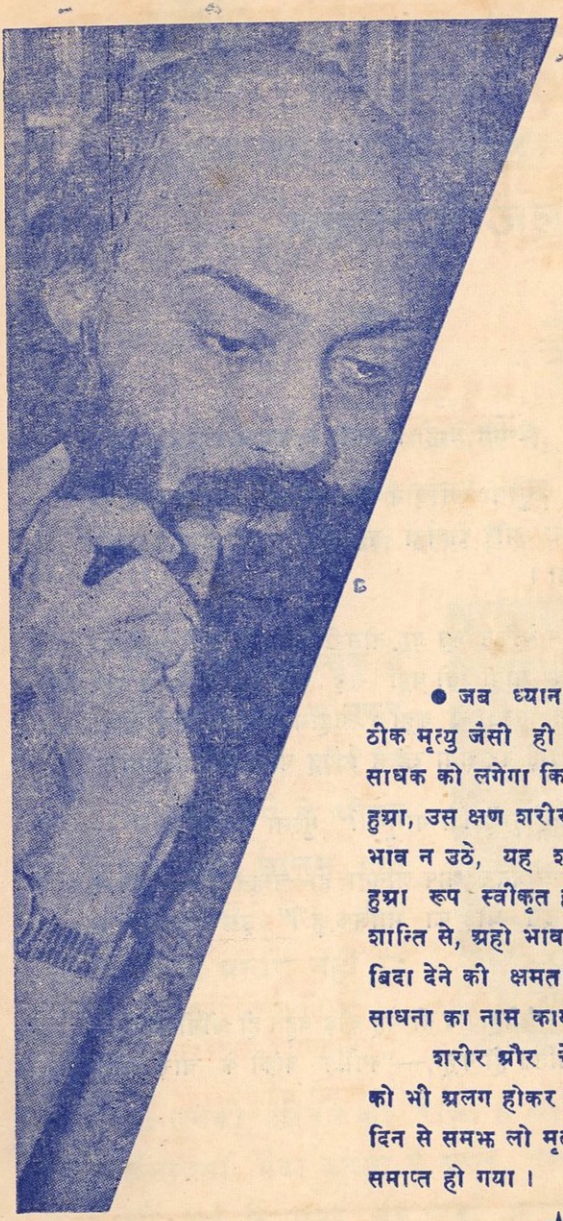

जब ध्यान प्रगाढ़ होगा तो ठीक मृत्यु जैसी ही घटना घटेगी।

● जब ध्यान प्रगाढ़ होगा तो ठीक मृत्यु जैसी ही घटना घटेगी। साधक को लगेगा कि मिटा, समाप्त हुआ, उस क्षण शरीर को पकड़ने का भाव न उठे, यह शरीर का छूटता हुआ रूप स्वीकृत हो जाये, सहर्ष, शान्ति से, अहो भाव से शरीर को बिदा देने की क्षमता आ जाये इसी साधना का नाम कायोत्सर्ग है।

शरीर और चेतना एक क्षण को भी अलग होकर दिखाई पड़े, उसी दिन से समझ लो मृत्यु का सारा भय समाप्त हो गया।

★

व्यंग-बोध

★

अज्ञान में ही जिन्दगी के सब दांव हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन ने 'सुल्तान' नाम के घोड़े पर दांव लगाया और दोबारा वह फिर उसी घोड़े पर दांव लगाने आया।

लेकिन जब वह तीसरी बार भी उसी घोड़े पर दांव लगाने आया तो वहां खड़े एक आदमी से न रहा गया। उसने मुल्ला से कहा : 'महाशय, आप क्यों इतना रुपया इस घोड़े पर लगा रहे हैं ? यह घोड़ा नहीं जीतेगा।"

"तुम्हें कैसे मालूम ?" मुल्ला ने पूछा।

"अगर आप जानना ही चाहते हैं तो बताये देता हूं, मैं इस घोड़े का मालिक हूं।" उस अजनबी ने कहा।

"ओह, तब तो यह दौड़ बहुत ही धीमी रहेगी", मुल्ला ने चिंतित हो कहा,—"क्योंकि बाकी के चार घोड़े मेरे हैं।"

सत्य के साथ खड़ा होना आग में जलना है

★ समस्त धर्मों ने, समस्त दर्शनों ने, समस्त योग की परम्पराओं ने मनुष्य से अगर कुछ छीनना चाहा है तो उसका दुख छीनना चाहा है।

★ वे लोग जो नास्तिक हैं और धर्म को छोड़कर खड़े हुए हैं और वे लोग जो धर्म के भीतर खड़े हुए मालूम होते हैं--दोनों के बीच अधिक अन्तर नहीं रह गया है।

★ जो सबको छोड़ने को राजी है वो सबको पाने की संभावना पैदा करता है अगर हम केवल सम्प्रदायों की धर्म के नाम पर चर्चा करते रहे तो धर्म का पुनरुत्थान होने को नहीं है।

मेरे प्रिय आत्मन्,

यह मेरे लिए बहुत आनन्द की बात है कि धर्म और दर्शन के संबंध में थोड़ी सी बातें आपसे कहूं। जो भी मैं कहना चाहता हूं उसे मैं एक विशेष अर्थ में देख रहा हूं—वो मुझे दिखाई पड़ रहा है और इसलिये अगर आपको उस अनुभूति में साझीदार बना सकूं तो अपना सौभाग्य अनुभव करूँगा। मैं पूरे देश में लाखों चेहरों को देख रहा हूं, लेकिन लाखों चेहरों पर एक ही बात दिखाई पड़ती है कि वे चेहरे भिन्न-भिन्न लोगों के हैं, वे चेहरे अलग-अलग जाति के लोगों के हैं, अलग धर्मों के मानने वाले लोगों के हैं, लेकिन सारे चेहरों पर एक दुख व्याप्त हो गया है और जीवन की ज्योति कुछ बुझती-सी मालूम पड़ती है और एक आनन्द और एक शान्ति और एक सौन्दर्य जो मनुष्य की चेतना में प्रगट हो—वह विलीन होता हुआ मालूम होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे हम जीवन की जड़ों से टूट गये हैं, जैसे हमारा सम्बन्ध उस स्रोत से विच्छिन्न हो गया है जिससे हम प्रकाश पाते थे, जीवन पाते थे। जीवित हैं लेकिन मृत की तरह, जीवित हैं लेकिन जीवन का कोई अर्थ नहीं। जीवित हैं—कह लेने को लेकिन एक अर्थ में केवल मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह जीवन जो केवल मृत्यु की प्रतीक्षा में बीत जाये और अमृत को उपलब्ध न कर सके व्यर्थ गया जीवन कहा जा सकता है। समस्त धर्मों ने, समस्त दर्शनों ने, समस्त योग की परम्पराओं ने मनुष्य से अगर कुछ छीनना चाहा है तो उसका दुख छीनना चाहा है। चाहा है कि मनुष्य के जीवन से दुख विसर्जित हो जाये, वो परम आनन्द को और शान्ति को उपलब्ध हो जाये। धर्म अगर सब ही आपसे कुछ त्याग करने को कहता है तो वह धन-सम्पत्ति और ऊपर की इन सारी बातों के त्याग को नहीं कहता, मूलतः वह दुख के त्याग को कहता है और जिन-जिन बातों के त्याग के लिए जोर और आग्रह है वो भी इसीलिए कि प्रतीति है कि उन सबके माध्यम से दुख हमारे जीवन में आता है और जब भी धर्म केवल बाह्य वस्तुओं के त्याग पर हो जाता है तो नकारात्मक हो जाता है, उससे जीवन की ज्योति और प्राण विलीन हो जाते हैं। मेरा मन होता है कहने का कि मैं उस वास्तविक धर्म के सम्बन्ध में थोड़ी बातें आपसे कहूं जो छोड़ने पर नहीं बल्कि पाने पर निर्भर हैं और हम आनन्द को उपलब्ध हो जायें तो दुख अपने आप विसर्जित हो जाता है। जैसे अँधेरे को त्यागना नहीं पड़ता, उसे छोड़ना नहीं पड़ता, केवल प्रकाश का दिया जला लेने पर अँधेरा नहीं पाया जाता है; वैसे ही जीवन में धर्म

का दिया उपलब्ध हो जाये तो जिसे हम दुख कहते हैं, जिसे हम पीड़ा और अज्ञान कहते हैं, जिसे हम मूर्च्छा कहते हैं और जिसके कारण सारा जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक एक दुख की कथा बन जाता है—वो अपने से विसर्जित हो जाता है।

इस सदी में और भी इसकी विचार की जरूरत पैदा हुई है क्योंकि मनुष्य कभी भी जीवन के मूल स्रोतों से इतना विच्छिन्न नहीं हुआ था। जीवन के जो भी शाश्वत् मूल्य थे, जीवन के जो सिद्धान्त थे, प्रकाश के दिये थे—कभी भी इतने मद्दे नहीं पड़े थे—जैसे पूरी सदी ने मनुष्य के इतिहास में हमने जो भी उपलब्ध किया था—महावीर ने, बुद्ध ने, जीसस ने या जरथुस्त ने—जो भी उपलब्ध किया था, उस सबको ठुकरा देने का निश्चय किया है। पिछले तीन सौ वर्षों में हमने अपने सारे प्राचीन दिये—फूंक देने की कोशिश की है और अब परिणाम में एक घना अंधेरा मनुष्य की छाती पर बैठ गया है। अगर मैं आपको स्मरण दिलाऊँ कि कैसे धीरे-धीरे हम उस सबको छोड़ते चले गये हैं जिसको छोड़ देने से न सौन्दर्य व्यक्तित्व का उपलब्ध हो सकता, न परम शान्ति—तो बहुत हैरानी होगी। वोल्तेयर ने कहा है: 'धर्म मरण शय्या पर पड़ा है—कब उसकी साँस टूट जावे—पता नहीं और जितनी जल्दी टूट जाये, उतनी सौभाग्य की बात है।' उसके बाद नीत्से ने कहा: 'ईश्वर मर गया है,' और मनुष्य अब जो भी करना चाहे—करने को स्वतंत्र है।' उसके बाद मार्क्स ने कहा: 'धर्म एक अफीम का नशा है और जितनी जल्द हम इससे मुक्त हो जायें, उससे जीवन में सुख की और आनन्द की संभावना है।'

अब अगर ये बातें कुछ सिरफिरे लोगों ने कही होतीं तो कोई बात न थी—ये विचारशील लोग थे, ये दार्शनिक की तरह कहीं आश्रित होते हैं और इनकी बातों का प्रभाव बढ़ते-बढ़ते सारी दुनिया के मन पर फैलता चला गया है। अब हम अगर ऊपर से आस्तिक भी हों तो भीतर से प्राण नास्तिक हो गया है। अगर हम ऊपर से धर्म के प्रति श्रद्धा भी प्रगट करते हों तो श्रद्धा कागजी और झूठी है—उसमें प्राण और साँसें नहीं रह गई हैं। भीतर हमारे कुछ टूट गया है। वे लोग जो नास्तिक हैं और धर्म को छोड़कर खड़े हुए हैं और वे लोग जो धर्म के भीतर खड़े हुए मालूम होते हैं—दोनों के बीच अधिक अन्तर नहीं रह गया है। दोनों की आस्था थोथी और खोखली हो गई है और इतना निश्चित मानें कि थोथी और खोखली आस्थाएं व्यक्ति को जीवन सत्य से नहीं जोड़ सकती हैं। केवल बौद्धिक धारणायें, केवल पुराण से सुनी हुई

बातें जिनके साथ प्राण की कोई आस्था न हो व्यक्ति को सत्ता तक और सत्य तक नहीं पहुंचा सकते हैं। ये सारी बातें जगत पर धीरे-धीरे फैलती चली गई हैं और अब वापिस धर्म के पुनरुत्थान की एक घड़ी आवश्यक हो गई है। अगर वापिस हम धर्म के पुराने जीवन को नहीं लौटा लेते तो संभावना है कि मनुष्य अपने को समाप्त कर ले।

मैं एक छोटी-सी कहानी आपसे कहूं—एक बिल्कुल काल्पनिक कहानी जिससे जगत की मनः स्थिति का बोध स्पष्ट हो सके। मैं एक बिल्कुल काल्पनिक कहानी पढ़ता था, मैं पढ़ता था कि ईश्वर ने ये देखकर कि मनुष्य ने इतना विकास किया, उसकी वैज्ञानिक क्षमता इतनी विकसित हो गई, उसके पास साधन अद्भुत उपलब्ध हुए हैं, शक्ति उपलब्ध हुई है, फिर भी पुरानी सदियों के आदमी के पास जो आनन्द था, आज की सदी के आदमी के पास क्यों नहीं है—दुनिया के तीन बड़े प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाया ये पूछने कि तुम्हारे पास शक्ति के सब साधन हैं, इतना विकास और प्रतिभा है लेकिन मनुष्य के जीवन का स्रोत सूखता क्यों जाता है—उसने रूस, अमरीका और ब्रिटेन के प्रतिनिधि को अपने पास बुलाया था। कहीं कोई ऐसा ईश्वर बुलाने को नहीं है। कहानी बिल्कुल झूठी है लेकिन कहानी में जो भी कहा गया वो सत्य के इतने करीब है कि कोई भी सत्य नहीं हो सकता है।

वे तीन प्रतिनिधि बुलाये गये। ईश्वर ने उनसे कहा : तुम्हारे पास जो भी मनुष्य कामना करे—वो है—लेकिन मनुष्य खोखला क्यों होता जाता है? तुम्हारे पास बाहर सब कुछ समृद्ध हो गया लेकिन मनुष्य भीतर इतना दरिद्र क्यों है? तुमने बाहर से जो भी आकांक्षा थी वो पूरी कर ली लेकिन भीतर का सब सूना-सूना क्यों होता जाता है? भीतर मनुष्य क्यों मर रहा है, अगर कुछ मेरी सहायता की जरूरत हो तो उसे पूरा कर लो—मुझसे मांग लो। तुम क्या चाहते हो? अमरीका के प्रतिनिधि ने कहा : मेरे मालिक हमारी एक ही आकांक्षा है कि दुनिया तो रहे लेकिन रूस का उस पर निशान न रह जाये। ऐसा वरदान दे दें—फिर मनुष्य अपने आप एक आनंद के लोक में प्रतिष्ठित हो जायेगा—फिर कुछ और चाहिये नहीं है। ईश्वर ने बहुत वरदान दिये होंगे—ऐसा वरदान उससे कभी मांगा नहीं गया था। उसने बहुत दुखी मन से रूस के प्रतिनिधि की तरफ देखा—रूस के प्रतिनिधि ने कहा : महानुभाव, एक तो हम आपको मानते नहीं—हमारी कोई आस्था नहीं कि आप हो भी, कि आपकी भी को सत्ता, कि

आपका भी कोई होना है, लेकिन फिर भी हम मान लें अगर एक वरदान पूरा हो जाये तो ईश्वर को स्वीकार कर सकते हैं—दुनिया में नक्शे तो रह जायें लेकिन नक्शों पर कोई रेखा, कोई रंग अमरीका का न रह जाये—ऐसा वरदान दें। ईश्वर ने ब्रिटेन के प्रतिनिधि की तरफ देखा और उसने जो कहा वह मन में रख लेने जैसा है। ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने कहा : मेरे प्रभु ! हमारी अपनी कोई आकांक्षा नहीं--इन दोनों की आकांक्षायें एक साथ पूरी हो जायें तो हमारी आकांक्षा पूरी हो जाती है।

अगर कोई सदी एक दूसरे के विनाश के, एक दूसरे के मृत्यु के लिए, दूसरे के अंत और मृत्यु के लिए इतनी आकांक्षा से भर गई हो, तो उस सदी को स्वस्थ नहीं कहा जा सकता है। वो सदी कुछ बीमार हो गई है, कुछ अस्वस्थ्य हो गई है, उस सदी का दिमाग विक्षिप्त हो गया है, हम कुछ पागल हैं और जो जीवन प्रभु के पाने में व्यतीत हो सकता था और जो जीवन आनन्द को उपलब्ध करने में साधन बन सकता था—वो केवल एक दूसरे के विनाश के विचार में समाप्त हो रहा है।

इस सदी में इसलिए धर्म के पुनरुत्थान की जितनी आवश्यकता है और किसी बात की नहीं है। और मैं आपसे कहूं कि ये अंधेरी घड़ियां और ये अंधेरे विचार और ये अंधेरे में खो गया—मानव का जीवन एक अर्थ में बड़ा आश्वासन भी है—इस अर्थ में आश्वासन है कि जब भी व्यक्ति गहरी नास्तिकता, गहरी निराशा और गहरी अनास्था से भर जाता है तो इस बात की बहुत संभावना है कि वो वास्तविक संभावना को उपलब्ध हो सके। जब बहुत गहरे सन्ताप में मानव डूब जाता है, जब गहरी पीड़ा से भर जाता है, तब इस बात की बहुत संभावना है कि वह परम आनन्द के प्रति उत्प्रेरित हो सके। वो परम आनंद को पाने के लिए गहरी प्यास से भर जाये। इस सदी में एक ओर इतनी अनास्था एक ओर इतनी पीड़ा लेकिन इस पीड़ा के भीतर आश्वासन भी है--वो आश्वासन ये है कि मनुष्य कभी भी पीड़ा से सहमत नहीं हो सकता है। वो आश्वासन ये है कि मनुष्य कभी दुख से सहमत नहीं हो सकता। वो आश्वासन ये है कि मनुष्य कभी भी नकारात्मक जीवन कोण से सहमत नहीं हो सकता है। वो मनुष्य के भीतर स्वभाव के विपरीत है, मनुष्य दुख से सहमत नहीं हो सकता है—इतना दुख, इतनी पीड़ा, इतनी निराशा एक बहुत अदभुत आस्तिक जगत का उदय बन सकती है। इतना दुख, इतनी निराशा एक नये प्रकाश

और एक नये ज्ञान के सूरज का उदय बन सकती है अगर हम ठीक से विचार करें और धर्म के विज्ञान को वापिस ले आयें। हमारी थोथी पूजाओं से और हमारे थोथे संप्रदाय के नारों से वापिस धर्म नहीं आ सकता है। अगर हम वास्तविक धर्म के लौटाने का विज्ञान समझ लें तो कोई कारण नहीं है कि ये सदी संभवतः दुनिया में मनुष्य के इतिहास की सबसे धार्मिक सदी बन जाये। इतनी पीड़ा के बीच बहुत संभावना है: इतने दुख के बीच बहुत संभावना है, इतने संताप के बीच बहुत संभावना है और वो संभावना व्यर्थ गई तो उसका जिम्मा नास्तिकों पर नहीं होगा अगर वो संभावना व्यर्थ गई तो उसका जिम्मा उन वैज्ञानिकों पर नहीं होगा—जिन्होंने धर्म को अस्वीकार किया बल्कि उन धार्मिकों पर होगा जो थोथे धर्म की बातें करते रहे और वास्तविक धर्म को वापिस नहीं लौटा सके। हम पर होगा, उन धार्मिक श्रद्धालुओं पर होगा जिनकी श्रद्धा ऊपरी है और जिनका भीतर की सत्ता से कोई संबंध नहीं है। तो मैं आज के दिन उस धर्म के विज्ञान की थोड़ी सी बातें करना चाहता हूं जो हमारी बाह्य क्रियाओं के बीच कहीं इतनी दब गई हैं कि राख ही राख रह गई है और अंगारे का कोई पता नहीं चलता। फिर राख से भी इतना मोह हो जाता है—फिर अहंकार इतना संयुक्त हो जाता है कि उसको हम सिर पर लिये फिरते हैं—केवल इसलिए कि वो राख हमारी है।

दूसरों की राख हमें दिखाई पड़ती है। एक ईसाई को जैनियों के विचार और उनके मत में और उनके संप्रदाय में जो व्यर्थ है—वो दिखाई पड़ता है। एक जैन को हिन्दुओं के संप्रदाय में जो व्यर्थ है वह उसे दिखाई पड़ता है। एक बौद्ध को जैनों, हिन्दुओं और ईसाईओं का सब व्यर्थ दिखाई पड़ता है। लेकिन एक जैन को अपने भीतर जो व्यर्थ इकट्ठा हो गया है और एक ईसाई को भीतर जो राख इकट्ठी हो गई है—दिखाई नहीं पड़ती है। अहंकार वहां रुकावट बन जाता है—जो मेरा है वो अहंकार का दावा बन जाता है। ये दावा छोड़ देना होगा कि 'जो मेरा है—वो सत्य है।' उनको दूसरा दावा दोहराना होगा कि जो भी सत्य है—मैं उसके साथ खड़े होने को राजी हूं। जो मेरा है वो सत्य है—ये दावा छोड़ देना होगा। जो भी सत्य है—मैं उसके साथ खड़े होने को राजी हूं। ये साहस करना होगा। धार्मिक व्यक्ति एक साहस से पैदा होता है—वो डर से पैदा नहीं होता—वो घबड़ाहट से पैदा नहीं होता है वो अंध-श्रद्धालुओं से पैदा नहीं होता।

ये धार्मिक व्यक्ति की मूल

व्यवस्था, उसका मूल आधार है कि वो इतना साहस कर सके कि जो भी उसकी अंतर-आत्मा को तृप्त नहीं कर रहा—जो भी उसे परम आनंद में नहीं ले जा रहा—उसे छोड़ने को राजी हो जाये। जो लोग ऊपरी आस्थाओं से और विचारों से सहमत हो जाते हैं—जो ऊपरी आस्तिकता की खोल से सहमत हो जाते हैं वे कभी परम आस्तिकता को उपलब्ध नहीं हो पाते। इसलिए मेरा मानना है कि धार्मिक व्यक्ति अनिवार्यतया एक नास्तिकता की घड़ी से गुजरता है—जब बुद्धि से सुनी गई बातें, शास्त्रों से सुने गये शब्द, जो उसे परिपूर्ण तृप्त नहीं करते—उसको छोड़ने को राजी हो जाता है। जो व्यक्ति सब छोड़ने को राजी हो जायगा—संभावना है कि उसे सब उपलब्ध हो जाये। जो व्यक्ति ऊपर से जिन धारणाओं को हमने इकट्ठा कर लिया है, उनको छोड़कर शून्य में जाने को राजी हो जायेगा हो सकता है, उसे सब उपलब्ध हो जाये। जो सबको छोड़ने को राजी है वो सबको पाने की संभावना पैदा करता है अगर हम केवल संप्रदायों की धर्म के नाम पर चर्चा करते रहे तो धर्म का पुनरुत्थान होने को नहीं है। अगर हम जैन की करते रहें और हिन्दू की और बौद्ध की और ईसाई की तो धर्म का पुनरुत्थान होने को नहीं है। सच ये है कि धर्म दो हो नहीं सकते। कोई भी विज्ञान दो नहीं सकते—कोई भी विज्ञान अनेक नहीं हो सकते हैं। एक विज्ञान, जैसे : मनोविज्ञान एक होगा सारे जगत का, जैसे : गणित एक होगा सारे जगत का, कोई हिन्दु का गणित अलग और कोई जैन का गणित अलग नहीं हो सकता है। एक फिजिक्स होगी—सारे जगत की. कोई ईसाई की फिजिक्स और कोई बौद्ध की फिजिक्स अलग नहीं हो सकती है। कोई पूर्व का विज्ञान और पश्चिम का विज्ञान अलग नहीं हो सकता—तो मनुष्य की अंतर-आत्मा को पाने का विज्ञान अलग कैसे हो सकता है। वे कभी भी अलग नहीं थे, वे कभी अलग नहीं रहे हैं, उन विज्ञानों के पीछे एक ही सूत्र-बद्धता है, एक ही प्रयोग है जो मनुष्य को अपने भीतर ले जाता है। उसकी बाह्य-परिधियां, उसके बाह्य आवेश भिन्न हो सकते हैं—उनके बोलने का ढंग, उनके कहने के ढंग भिन्न हो सकते हैं, उनकी भाषायें भिन्न हो सकती हैं—लेकिन जो मूल सत्य है जो भीतर सत्य है वो भिन्न होना असंभव है। जितना व्यक्ति जैन होने लगेगा, परिपूर्ण रूप से उतना ही एक अर्थ में कम जैन होने लगेगा। जितना एक व्यक्ति ईसाई होने लगेगा—उतना ही विशेष गिरने लगेगा। जितना ही कोई व्यक्ति हिन्दू होने लगेगा—उतना ही

हिन्दू होने का भाव गिरने लगेगा। जो व्यक्ति धार्मिक होगा—वो व्यक्ति ईसाई, हिन्दू और जैन नहीं रह जाता है। जो व्यक्ति परम रूप से अपने को उपलब्ध होगा—वो व्यक्ति किसी सीमा में, किसी संप्रदाय की और किसी देश की और किसी जाति की सीमा में आबद्ध नहीं रह जाता है। जो अपने में पहुंचता है—वो सीमाओं के बाहर हो जाता है। धर्म सीमाओं के बाहर है, मूल धर्म समस्त सीमाओं के बाहर है। उस धर्म को जो सीमाओं के बाहर है—क्या है? थोड़ा सा हम उसे समझें—न तो हमारी पूजायें और प्रार्थनायें, न हमारे मंदिर और मसजिद उस धर्म से संबंधित हैं। जो भी मनुष्य अपने से बाहर के लिए करता है—वो धर्म नहीं है।

बर्ट्रेन्ड रसल ने एक बात कही है, उन्होंने कहा है कि: मनुष्य ने तीन तरह के विकास किये हैं: एक विकास हुआ है बिज्ञान का जिसमें हमने जो हमारे बाहर जगत व्याप्त है उसको खोजने की कोशिश की है, एक विकास हुआ है समाज बिज्ञानों का जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से कैसे संबंधित हो— एक मनुष्य पूरे समाज से कैसे संबंधित हो उसका विकास उसके नियम खोजे गये हैं, और एक बिकास हुआ है आंतरिक बिज्ञान का जिसमें मनुष्य अपने साथ क्या करे—इसको खोजा गया है। धर्म मूलतः अपने साथ हम क्या करें इसकी खोज है, मैं अपने साथ क्या करूं—मैं जीवन भर दूसरों के साथ कुछ करता हूं—मैं अपने साथ क्या करूं—मै भी हूं—मेरी भी सत्ता है—और मेरी ही सत्ता मेरे लिए प्राथमिक है—वो सब कुछ है। यदि मैं अपनी सत्ता के प्रति बेहोश और मूछित हूं तो मैं पूरे जगत के प्रति बेहोश और मूर्च्छित रहूंगा। अगर मैं केन्द्र पर मूर्च्छित हूं तो मेरा बाहर का कोई भी ज्ञान. ज्ञान नहीं हो सकता है। आत्म ज्ञान के अभाव में सब ज्ञान अज्ञान है, उसमें कोई अर्थ नहीं है। मैं भीतर अंधेरे से भरा हूं तो सारे जगत में भरे हुए प्रकाश का कोई अर्थ नहीं है। मेरे भीतर जहां सत्ता की मेरी प्राथमिक शुरुआत है, जहां मैं सत्य से संयुक्त हूं, वहां से मुझे ज्ञान से भरना होगा, वहाँ से मूर्च्छा तोड़नी होगी, वहाँ घना अंधेरा है—कभी अपने भीतर झांकें—वहां घना अंधेरा है, वहां कुछ भी बोध नहीं है, वहाँ कुछ भी परिचय नहीं है, वहां कोई पहिचान नहीं हैं, वहां के सब रास्ते अंधेरे से भरे पड़े हैं। मैं अपने भीतर अंधेरे से भरा जिऊंगा और मर जाऊंगा और सारे जगत के संबंध में सोचता रहूंगा और विचार करता रहूंगा। विचार की क्या उपादेयता है? धर्म मनुष्य को उस असन्तोष से भर देना चाहता है

धर्म मनुष्य को उस असन्तोष से भर देना चाहता है पहले कि वो अपने प्रति अज्ञानी है और हम ठीक से समझें जो लोग भ्रांति से ये जाने रहेंगे कि हम अपने को जानते हैं—वे कभी अपने को नहीं जान सकेंगे। ज्ञान की शुरुआत इस पीड़ा से होगी कि हम ठीक से परिचित हों अपने से कि हम अज्ञान से भरे हैं। हमें अपने से परिचय नहीं है। आत्म-ज्ञान का विज्ञान धर्म है।

पहले कि वो अपने प्रति अज्ञानी है और हम ठीक से समझें जो लोग भ्रांति से ये जाने रहेंगे कि हम अपने को जानते हैं—वे कभी अपने को नहीं जान सकेंगे। ज्ञान की शुरुआत इस पीड़ा से होगी कि हम ठीक से परिचित हों अपने से कि हम अज्ञान से भरे हैं। हमें अपने से परिचय नहीं है। आत्म ज्ञान का विज्ञान धर्म है।.....

स्वामी रामतीर्थ एक भारतीय साधु, यूरोप और अमरीका से घूमकर जब भारत वापिस लौटे तो एक घटना घटी। वो मैं आपसे कहूं। वे टेहरी गढ़वाल के गाँव में मेहमान थे। टेहरी गढ़वाल का जो नरेश था—जब भी कोई साधु, कोई संन्यासी, कोई भी जागृत पुरुष उसके गांव में आया था तो २० वर्षों से वो एक ही प्रश्न उनसे जाकर पूछता रहा था। एक ही प्रश्न उसने अनेक लोगों से पूछा था और एक ही प्रश्न वो अनेक लोगों से पूछता गया था—उसकी तृप्ति नहीं हुई थी। उसे उत्तर नहीं मिला था। वो रामतीर्थ के पास भी उस प्रश्न को पूछने गया था और इसलिए उल्लेखनीय है ये घटना कि रामतीर्थ से मिलने के बाद उसने ये प्रश्न फिर कभी दूसरे से नहीं पूछा था। उसे उत्तर मिल गया था। वो रामतीर्थ के पास सुबह-सुबह गया—उसने जाके कहा : स्वामी जी मैं कोई प्रवचन सुनने नहीं आया, मैं कोई शास्त्रों के संबंध में व्याख्यायें सुनने नहीं आया, मैं कोई दार्शनिक मतवाद पूछने नहीं आया हूं। मैं एक सीधा सा प्रश्न पूछने आया हूं और २० वर्षों से अनेक लोगों से पूछा और जैसा आया था—वैसा ही उनके द्वार से वापिस लौट गया हूं। रामतीर्थ ने कहा : पूछो, बहुत आशा है कि आज वैसे वापिस न लौटो। टेहरी गढ़वाल का नरेश हंसने लगा क्योंकि आशा नहीं थी कि कोई उत्तर मिल सकता है। क्योंकि उसका प्रश्न ही ऐसा था जिसका उत्तर लगभग नहीं है। उसने

पूछा : मैं ईश्वर से मिलने को आया हूं, ईश्वर से मिला दे सकते हैं ? और रामतीर्थ ने जो कहा वो बहुत अद्भुत था। रामतीर्थ ने कहा : अभी मिलना चाहते हैं या थोड़ी देर रुक सकते हैं। टेहरी गढ़वाल का नरेश समझा कि शायद समझने में भूल हो गई है, रामतीर्थ शायद समझे मैं किसी आदमी से मिलना चाहता हूं। उसने दुबारा दुहराया, उसने हाथ ऊपर उठाया, उसने कहा : मैं परम पिता परमेश्वर से मिलने की बात कर रहा हूं। रामतीर्थ ने कहा : मैं तो उसके सिवाय और किसी की बात करता नहीं, इसलिए भूल की कोई गुंजाइश नहीं है। वो बोला : स्वामी जी, फिर मैं अभी मिलना चाहता हूं। रामतीर्थ ने कहा : एक छोटा सा काम करें, एक कागज पर लिखकर दे दें, आपका परिचय कि आप कौन हैं ताकि मैं प्रभु तक पहुंचा दूं। और वो आपको बुला लें। उसने कहा : ये तो ठीक है, मुझसे भी कोई मिलने आता है तो मैं उसका परिचय माँगता हूं, कौन है—क्या है ? उसने एक कागज पर लिखा अपना नाम : अ या ब, लिखा टेहरी गढ़वाल का नरेश हूं। और लिखा अपने महल का पता और रामतीर्थ के हाथों में दिया। रामतीर्थ उसे लेकर जोर से हंसने लगे। ये सब झूठ है—इसमें कुछ भी तुमने लिखा नहीं। वो नरेश बोला : ये आप क्या कहते हैं—जो मेरा परिचय था—मैंने लिखा है। एक भी शब्द उसमें असत्य नहीं है। रामतीर्थ बोले : अगर ये नाम हम दूसरा कर दें तो तुम बदल जाओगे, अगर ये नाम हम बदल दें तो तुम बदल जाओगे—उस नरेश ने कहा—तब भी मैं वही रहूंगा—नाम के बदलने से मैं बदलने का नहीं हूं। रामतीर्थ ने कहा : आज तुम टेहरी गढ़वाल के नरेश हो कल भिखारी हो जाओ तो बदल जाओगे। उस नरेश ने कहा : फिर भी मैं नहीं बदलूंगा, जो मैं बादशाह होके हूं वही भिखारी होके भी रहूंगा। रामतीर्थ ने कहा : फिर जो नहीं बदलेगा—वो तुम हो या जो बदल जायेगा वह तुम हो। उस नरेश ने कहा : कि ये बात तो कुछ समझ में पड़ती है —ये समझ में आता है कि जो बदल जाता है—वो मैं नहीं हो सकता। जो नहीं बदलता है, जो अपरिवर्तित है वही मैं हूं। फिर रामतीर्थ ने कहा : उसका परिचय लिखो तो वो तुम्हारा परिचय हो। अभी तुमने बदलने के बाबद जो बात कही—परिवर्तित होने वाले के संबंध में कहा : वो तुम्हारा परिचय नहीं है। वो नरेश बोला : तब स्वामी जी कठिनाई है, उस परिचय का तो मुझे कोई पता नहीं है और मैं आपसे कहूं कि उस परिचय का हमें भी कोई पता नहीं है। रामतीर्थ ने कहा : जो अपने से

परिचित नहीं वो प्रभु से मिलने की आकाँक्षा करे तो थोड़ी सी ज्यादती है, जो अपने से परिचित नहीं वो प्रभु से मिलने की संभावना माने तो गल्ती पर है। रामतीर्थ ने कहा : आत्म ज्ञान प्रभु-मिलन का द्वार है और मैं एक कदम और आगे जाता हूं, मैं कहता हूं, कि 'आत्म ज्ञान' ही प्रभु-मिलन, वो द्वार भी नहीं है, वो रास्ता भी नहीं है, वही प्रभु है।' मैं अपने से परिचित होते ही प्रभु हो जाता हूं। मैं अपने से अपरिचित हूं—इसलिए मैं प्रभु हो जाऊंगा—जो मैं नहीं था—वो होना असंभव है। आत्म-ज्ञान पर ये पता नहीं चलता कि मैं प्रभु हो गया, आत्म-ज्ञान पर ये पता नहीं चलता कि मुझे आनन्द उपलब्ध हो गया। आत्म-ज्ञान पर ये पता चलता है कि मैं अजीब विचित्र था, जो मेरा था जो निरन्तर मेरा था—उसे मैं मेरा नहीं जानता था। जो निरंतर मैं था, जो नित्य मेरा स्वरूप था, उससे मैं अपरिचित था। एक क्षण को भी उस स्वरूप को खोया नहीं है। एक

रामतीर्थ ने कहा : जो अपने से परिचित नहीं वो प्रभु से मिलने की आकांक्षा करे तो थोड़ी-सी ज्यादती है, जो अपने से परिचित नहीं वो प्रभु से मिलने की संभावना माने तो गल्ती पर है। आत्म-ज्ञान प्रभु मिलन का द्वार है और मैं एक कदम और आगे जाता हूं, मैं कहता हूं कि—'आत्म-ज्ञान' ही प्रभु-मिलन है, वो द्वार भी नहीं है, वो रास्ता भी नहीं है, वही प्रभु है।

कुछ और हूं। कुछ क्षुद्र, न कुछ मैं अपने से परिचित होते ही प्रभु हो जाता हूं। 'सब कुछ' हो जाता हूं, उस दिन विराट और उस दिन अनंत मेरा हो जाता है। उस दिन असीम मैं हो जाता हूं। यह प्राण है, ये प्राण की घटना कैसे घट सकती है—कौनसी मूर्च्छा इससे हमें रोक रही है—कौनसी मूर्च्छा है जिसके कारण मैं निरंतर प्रभु में हूं—मैं निरंतर प्रभु हूं, लेकिन अपरिचित हूं। क्या आत्म-ज्ञान पर क्षण को भी चाहें—तो खो नहीं सकते। जो खोया जा सकता है—वो प्रभु नहीं है। एक क्षण को भी, चाहे अनंत हमारे जन्म हुये हों, चाहे अनंत हमारी रास्ता और भटकन हुई हो, चाहे हम कितने ही अंधेरे में दूर चले गये हों; लेकिन हम प्रभु को खो नहीं सकते हैं—वो हमारा स्वरूप है, वो असमर्थता है। कितने ही दूर हम निकल जायें, हम स्वरूप से दूर नहीं जा सकते। हम निरंतर उसी में

प्रतिष्ठित हैं और खड़े हैं और इसी क्षण हम उसमें झांकें तो पहुंचना हो सकता है। कौन सी मूर्च्छा है, कौन सी बाधा है, कहां मैं उलझ गया हूं, जो मैं नहीं हूं—उसको समझता हूं—अपना होना—और जो मैं हूं, उससे अपरिचित हो गया हूं।.....

एक ही बुनियादी मूर्च्छा है, एक ही अविद्या है, एक ही बुनियादी अज्ञान है—अज्ञान को ठीक से समझ लें, उसके तोड़ने का उपाय भी समझ में आ सकता है। जिन कारणों से वो अज्ञान इकट्ठा हुआ है, उन कारणों के हटा देने पर वह विसर्जित हो जा सकता है और जो हमारा है, निरंतर हमारा रहा—वो वापिस हमारा हो सकता है।

अगर हम मनुष्य के सम्बन्ध में विचार करें, उसकी मूर्च्छा शरीर से शुरू होती है। वो देह-मूर्च्छित है। वो अपने शरीर को मान लेता है कि यही 'मैं' हूं। इस मान लेने में भी पीछे कारण हैं। मैं मान लेता हूं कि मैं देह हूं। जीवन भर देह मानकर चलता हूं। देह की वासनायें मेरी वासनायें हो जातीं, देह के आकर्षण मेरे आकर्षण हो जाते। देह के विकार मेरे विकार हो जाते हैं। मैं देह के साथ तादात्म्य कर लेता अपना और फिर देह होकर ही जीता हूं और जब देह होकर जीता हूं तो मृत्यु का भय पकड़ता है। जीवन को बचाये रखने की आकांक्षा पकड़ती है। उससे हिंसा का जन्म होता। देह को तृप्त करने की आकांक्षा पकड़ती—उससे अब्रह्मचर्य का जन्म होता। देह को सुरक्षित रखने की आकांक्षा पकड़ती है और परिग्रह का जन्म होता है। फिर सब इकट्टा होता जाता है, इस देह के केन्द्र पर—सब कुछ इकट्ठा होता चला जाता है—इस देह के केन्द्र पर, सारे कर्म इकट्ठे होते चले जाते हैं—मेरे सारे बंध इकट्ठे होते चले जाते हैं। "मैं देह हूं" यह भ्रान्ति तोड़नी आवश्यक है—लेकिन ये क्या उपदेश से होगा—क्या मैं आपसे कहूं कि आप देह नहीं हो तो बात पूरी हो जायेगी? क्या मैं आपको समझाऊं

एक ही बुनियादी मूर्च्छा है, एक ही अविद्या है, एक ही बुनियादी अज्ञान है—अज्ञान को ठीक से समझ लें, उसके तोड़ने का उपाय भी समझ में आ सकता है। जिन कारणों से वो अज्ञान इकट्ठा हुआ है, उन कारणों के हटा देने पर वह विसर्जित हो जा सकता है और जो हमारा है, निरंतर हमारा रहा—वो वापिस हमारा हो सकता है।

कि समझो कि आप देह नहीं हो तो बात पूरी हो जायेगी। आप लाख बार दोहराओ कि मैं देह नहीं हूं—आप जितनी बार दुहराते जाओगे आपका दोहराना ही इस बात का सबूत होगा कि आप जानते हो कि आप देह हो। अगर मैं ये कहूं कि 'मैं देह नहीं हूं' तो मैं क्यों कहूंगा—ये मैं इसलिए कह रहा हूं कि मैं जानता हूं कि मैं देह हूं। यह मैं भीतर से जानता हूं। इसको मैं कितना भी ऊपरी बातचीत और कल्पना से झुठलाना चाहूं—ये झुठलाया नहीं जा सकता है। जिस कारण से दीख रहा है कि मैं देह हूं, उस कारण के टूटने पर जो संबंध मेरी चेतना और देह के बीच है—उस सेतु के टूट जाने पर, उसके विसर्जित हो जाने पर—उसे दीखेगा 'मैं देह नहीं हूं'—ये विचार नहीं है, ये धारणा नहीं है। ये दीखेगा एक क्षण में कि मैं देह नहीं हूं। देह के बाहर हूं, देह से पृथक हूं, देह से भिन्न हूं। जिस क्षण ये दीखेगा और दर्शन बनेगा—उस क्षण कोई तर्क, कोई विचार, कोई मत-वाद इसे तोड़ने में असमर्थ है। उस दिन ये अबाध रूप से, अखंडित रूप से मेरा बोध बन जाता है। श्रद्धा से यहाँ नहीं पहुंचा जा सकता, श्रद्धा से ये नहीं होगा—केवल ये ज्ञान से होगा। गाँधीजी कहा करते थे : जो लोग प्रभु को पाना चाहते हैं, उन्हें पहले श्रद्धा करनी होगी फिर वे प्रभु को पा सकेंगे। मैं कहता हूं ये कच्चे आस्तिक की बात है—ये कच्चे आस्तिक की बात है कि पहले श्रद्धा करनी होगी। कोई भी ज्ञान श्रद्धा करने को क्या कहेगा। ज्ञान कहता है : पहले उसे जानलो, फिर जो दिखाई पड़े उसे मान लेता। मैं आपसे कहता हूं जाना पहिले जा सकता है—उसका विज्ञान है। पहले मैं जान सकता हूं कि मैं देह नहीं हूं और जिस दिन जानूंगा उस दिन श्रद्धा सहज चली आयगी—जैसे गाड़ी चलती हो और चके की लीक उसके रास्ते पर सहज पीछे बनती चली जाय। जिस दिन मैं जानूंगा, उस दिन सब कुछ होगा। सम्यक् दर्शन की घटना घटेगी—तब सम्यक् रूपेण मैं सम्यक् ज्ञान के प्रकाश

ज्ञान कहता है : पहले उसे जान लो फिर जो दिखाई पड़े उसे मान लेना। मैं आपसे कहता हूं जाना पहिले जा सकता है—उसका विज्ञान है। पहले मैं जान सकता हूं कि मैं देह नहीं हूं और जिस दिन जानूंगा उस दिन श्रद्धा सहज चली आयगी—जैसे गाड़ी चलती हो और चके की लीक उसके रास्ते पर सहज पीछे बनती चली जाय।

में देखूंगा । उससे ज्ञान उत्पन्न होगा—उस ज्ञान उपलब्ध होने से आचरण अपने आप हो जायेगा । ज्ञान के विपरीत आचरण असंभव है । ये दीखना कैसे हो सकता है ? मैं आपसे एक छोटी-सी कहानी कहूं :

महाराष्ट्र में एक साधु हुए हैं, उस साधु के पास वर्षों तक एक व्यक्ति आता रहा । उस व्यक्ति के मन में हमेशा एक विचार उठता था—इस साधु के मन में, क्या नाथ जी के मन में विकार नहीं उठते होंगे, क्या इसके मन में वासनायें नहीं पकड़ती होंगी, क्या इसके मन में धूल नहीं आती होगी, क्या मूर्च्छा नहीं आती होगी, क्या ये कभी मूर्च्छित होकर वासना-ग्रस्त नहीं होता होगा, क्या कभी अंधापन इसे नहीं घेर लेता, क्या इसके मन में अब्रह्मचर्य नहीं उठता ? उसके मन में निरंतर ये विचार उठते रहे थे । एक दिन आखिर उसने नाथ जी से पूछा : उसने कहा, नाथ जी एक बात पूछनी है, क्या आपके मन में विकार नहीं उठते हैं, क्या आपके मन में अशुद्धि नहीं आती ? नाथ जी ने कहा : उत्तर थोड़े बाद में दूंगा, एक और भी जरूरी बात बता दूँ कि कहीं भूल न जाऊँ—फिर तुमने जो पूछा उसका उत्तर दूँ । नाथ जी ने कहा : कल अचानक तुम्हारे हाथ पर मेरी नजर पड़ी, देखा तुम्हारी उम्र की रेखा समाप्त हो गई है । सात दिन और—सूरज के ढलते ही तुम्हारा भी ढल जाना है । बाद नाथ जी बोले ठीक, अब पूछो । वो आदमी बोला : अब पूछने को कुछ नहीं, अब मैं घर जाना चाहता हूं ।

उस आदमी ने कहा : अब मैं घर जाना चाहता हूं । नाथ जी ने कहा : तुमने बड़ी अच्छी बात पूछी थी, लम्बी चर्चा होती । वो आदमी बोला : कभी समय मिला तो मैं आऊंगा—लेकिन अब मुझे घर जाने दें । अब नाथ जी पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता था—वो आदमी घर की तरफ चला । रास्ते में उसके पैर डगमगाने लगे, उसकी छाती की धड़कन बढ़ गई, उसकी छाती को घबड़ाहट पकड़ गई—वो घर पहुंचा तो वो मूर्च्छित होकर गिर पड़ा । लोगों ने उसे उठाया । लोगों ने पूछा : क्या बात हुई ? उसने कहा : अब सात दिन जीवन और है । वो मुहल्ले में गया, गांव में गया—उन लोगों से क्षमा मांग आया जिनसे जीवन में कभी भूल-चूक में कुछ कह दिया था, कभी किसी से दो कड़वे शब्द कह दिये थे । उनके पैर छू आया—सबसे क्षमा मांग आया । अब केवल सात दिन और जीना है—और वो बिस्तर से लग गया । जैसे-जैसे दिन और घड़ी बीतने लगे और उसकी साँस धीमी पड़ने लगी—डूबने लगी—सातवें दिन वो बिल्कुल मरणासन्न था—सूरज के

डूबने की राह थी और वह निश्चित डूब जाता। सूरज के डूबने के घड़ी भर पहले, एकनाथ उसके द्वार पर गये। बच्चे और पत्नी उनके पैर पकड़कर रोने लगे—वो हँस रहे थे। पत्नी-बच्चे बोले : आप तो हँस रहे हैं, हमारा तो घर सूना हुआ जा रहा है। यहाँ तो घर का प्रकाश बुझने को है। नाथ जी बोले : घबड़ाओ मत, जरा उससे बात कर लूं—वो भीतर गये। उस आदमी ने बा-मुश्किल आँख खोली—आँख तो गड्ढे में धँस गई थी। नाथ जी बोले : सात दिन मन में कोई विकार आया, सात दिन कोई दुस्वासना मन को घेरी ? वो आदमी बोला : नाथ जी मजाक करते हैं—इस मरते क्षण में मौत इतने करीब थी, इतना कम फासला था कि विकार को उठने की गुंजाइश नहीं थी। नाथ जी ने कहा : तेरी अभी मृत्यु आई नहीं, केवल तेरे प्रश्न का उत्तर दिया है। अभी तू मरने को नहीं है—तूने मुझसे जो पूछा था, उसका उत्तर दिया है—सात दिन बाद मौत हो या सत्तर वर्ष बाद—इससे क्या अन्तर पड़ता है। जो मरना है—जिसे मिटना है—उसके पीछे चलने का बोध इसलिये हमें है। हमें इस बात का पता नहीं—वो मिट जाने को है। प्रत्येक आदमी सब कुछ देखते हुए, मृत्यु के प्रति अंधा है। सब कुछ जानते हुए—मृत्यु के प्रति बेहोश है। ये बेहोशी, ये शरीर के मिट जाने के सम्बन्ध में संभावना के प्रति मूर्च्छा मनुष्य को विकार में ले जाती है। ये मूर्च्छा क्यों है ? ये शरीर से हम क्यों बंधे हुए हैं—ये कौन हमें बाँधे हुए है ? अगर हम थोड़ा-सा विवेक करें, विचार करें, विचार करें—तो हम पायेंगे कि चेतना और शरीर के बीच में मन है। मन दोनों के बीच का जोड़ है। मन के माध्यम से हम शरीर से जुड़े हुए हैं—मन के माध्यम से शरीर के प्रति मूर्च्छित हुए हैं। मन के माध्यम से हमने जाना कि मैं शरीर हूं, मैं देह हूं, ये मन के कारण पैदा हुई आस्था है। अगर मन विसर्जित हो जाये, अगर मन का सेतु भीतर से टूट जाये,

मन के माध्यम से हमने जाना कि मैं शरीर हूं, मैं देह हूं, ये मन के कारण पैदा हुई आस्था है। अगर मन विसर्जित हो जावे, अगर मन का सेतु भीतर से टूट जाये, अगर एक क्षण को मन न हो और मैं होऊं तो उसी क्षण दीख जायेगा कि मैं पृथक खड़ा हूं, देह पृथक पड़ी है।

अगर एक क्षण को मन न हो और मैं होऊं तो उसी क्षण दीख जायेगा कि मैं पृथक खड़ा हूं, देह पृथक पड़ी है। मन को विसर्जित करने का विज्ञान ही देहासक्ति के और देह-बोध के ऊपर उठने का विज्ञान है। आत्म-ज्ञान का द्वार है। वही कारण है, जो रोके है। वही कारण विसर्जित हो जाने पर पहुंचना हो जाता है। मन हमारा—हमारी चेतना और शरीर के बीच सेतु है, जोड़ है, बंधन है। उसके गिरा देने से आत्म ज्ञान, आत्म-परिचय में उठना संभव हो जाता है। ये मन कैसे छूट सकता है, ये मन एक क्षण में छूट सकता है। इस मन की वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है। ये मन बहुत कमजोर है और वे लोग भ्रान्त हैं जो समझते हैं और कहते हैं कि मन बड़ा कठिन है, बड़ा दुर्गम है, बड़ा चंचल है, इससे पार पाना बड़ा कठिन है। उन सारे लोगों ने लोक-मानस के साथ एक पाप किया है। ये बात इतनी बार कही गई कि मन से पार पाना बड़ा कठिन है, मुश्किल है, दुष्कर है कि लोक-मानस में बैठती चली गई है और लोग इसलिए प्रयोग करना भी छोड़ दिये हैं कि इतनी कठिन बात कभी कोई एकाध कर लेता हो, कोई बिरला—सबसे कैसे हो सकेगी। मैं आपको दोहराता हूं—मैं आपसे ये कहना चाहता हूं कि मन से मुक्त होने से सरल बात—इस जीवन में दूसरी नहीं है। मन से मुक्त होने से सरल बात इस जीवन में दूसरी बात संभव नहीं है—लेकिन अगर हम गलत चलें तो सरल बात भी कठिन हो जाती है। अगर इस स्थान पर अंधेरा भरा हो और हम उसे धक्के देकर निकालने की कोशिश करने लगें और लाठियां चलायें और बन्दूकें चलायें और सैनिकों को ले आयें और धक्के दिलवायें तो अंधेरा दूर नहीं होगा। चाहे हम थक के कहें कि अंधेरे को दूर करना बहुत कठिन है, इतनी ताकत लगाने पर भी अंधेरा वहीं के वहीं है—हमीं थक गये हैं तो हमारी नासमझी होगी। अंधेरा नकारात्मक है, उसकी कोई सत्ता नहीं है। उसका कोई पाजिटिव्ह एक्सिसटेन्स नहीं है। उसका होना नहीं है कि उसे धक्के दे के निकाला जा सके, उसे फेंका जा सके। या बन्दूक चलाई जा सके, या तलवार चलाई जा सके। वो यदि थोड़ा भी होता तो तलवार काम कर सकती थी—गठरी बाँध के बाहर फेंक सकते थे। लेकिन वो है ही नहीं—वो केवल प्रकाश के न होने का नाम है। वो केवल प्रकाश का अभाव है। इसलिए जिसका अभाव है उसके लाने से मिट सकता है और कोई मिटाने का रास्ता नहीं है। सिर्फ एक दिया उस अंधेरे को मिटा देगा और एक दिन का अंधेरा हो कि एक हजार वर्ष का—प्रकाश का

दिया एकसा मिटा देता है। वो ये नहीं पूछता दिया कि कितने दिन का अंधेरा है, एक दिन का अंधेरा है तो जल्दी मिटेगा, एक करोड़ वर्ष का है तो देर से मिटेगा—ऐसा नहीं पूछता। प्रकाश का दिया आया कि अंधेरा कितना ही पुराना हो मिट जाता है। आत्म-अज्ञान कितना ही पुराना हो ज्ञान के दिया के जलते ही मिट जाता है। मेरा मानना है ध्यान का अभाव मन है। मन की अपनी कोई सत्ता नहीं है। मन का अपना कोई पाजिटिव्ह एक्जिसटेन्स नहीं है। उसका होना नहीं है। वो केवल ध्यान का अभाव है। इसलिए जो लोग मन से लड़ने में लगेंगे, दमन में और दबाव में और संघर्ष में वे लोग मन से जीत नहीं सकते हैं। मन है ही नहीं। ध्यान को लाते ही मन नहीं पाया जाता। ध्यान के आने पर मन मिटता नहीं, मन जाता नहीं, मन समाप्त नहीं होता केवल नहीं पाया जाता है—वो अभाव था—ध्यान के दिया के आते ही विसर्जित हो जाता है। ध्यान मूल केन्द्र है—समस्त धर्म की साधना का। बाकी सब परिणाम हैं, अहिन्सा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ध्यान के परिणाम हैं। ध्यान की घटना घटते ही मूर्च्छा टूटते ही जो मूर्च्छा से उत्पन्न था—वो विसर्जित हो जाता है।...

ध्यान क्या है? ध्यान क्या एकाग्रता है—एकाग्रता ध्यान नहीं है। एकाग्रता मन की ही शक्ति है। एकाग्रता का अर्थ है—मन की दौड़ती हुई शक्ति को, मन के दौड़ते हुये विचारों को, इकट्ठा एक जुट किसी एक विषय पर केन्द्रित कर लेना—उससे महान शक्ति पैदा हो सकती है। उससे मन की सोई हुई शक्तियां जाग सकती हैं। उससे सिद्धियाँ उपलब्ध हो सकती हैं लेकिन अध्यात्म से उनका कोई संबंध नहीं है। वे शक्ति के योग हैं। विशेषतया जैन और बौद्ध शक्ति के योग का आग्रह नहीं करते। उनका आग्रह शांति के योग का है। शक्ति के योग को पाने के पीछे भी वासना होती है। शक्ति मात्र के पाने के पीछे वासना होती है। चूंकि शक्ति तो केवल किसी वासना की तृप्ति का साधन भर है, शक्ति अपने में अर्थ नहीं रखती। शान्ति के पीछे कोई वासना नहीं है, शांति के पीछे वासना-मुक्ति का भाव है। ध्यान एकाग्रता नहीं है, फिर ध्यान क्या कोई लय की अवस्था है, कोई मूर्च्छा है—हम सब भूल जायें : मंदिर में प्रार्थना करते हैं, प्रार्थना करने में भूल जाते हैं, नाचते हैं नाचने में थोड़ी देर को भूल जाते हैं, गीत गायें—गीत गाने में थोड़ी देर को भूल जाते हैं—भूल जाना ध्यान नहीं है। भूलना नहीं है अपने को—भूलना पलायन है वो तो नशा है। एक आदमी शराब पीकर अपने को भूल

जाता है, एक आदमी भजन की लय में अपने को भूल जाता है, एक आदमी थोड़ी देर को गीत गाके गीत में अपने को भूल जाता है। भूल जाना ध्यान नहीं है—अपने को भूलना नहीं—परिपूर्ण रूप से जानना है। अपने को थोड़ी देर को भूल जाने से सुख मिलता है, चिन्ताओं का भार कम हो जाता है। थोड़ी देर को हम चिन्ताओं की दुनियां से बाहर हो जाते हैं—वो केवल एक नशा है। धर्म के नाम पर हमने जो बहुत सी बातें सीख रखी हैं—पलायन की, भूलने की—उनसे ध्यान से कोई संबंध नहीं है। फिर ध्यान क्या है ? न ध्यान एकाग्रता है, न ध्यान लय अवस्था है—ध्यान परिपूर्ण जागृत अवस्था है। अपने प्रति, अपने मन के प्रति परिपूर्ण जागरुकता ध्यान है। एक छोटी सी कहानी कहूं, उससे मेरी बात समझ में आ जायेगी :

गौतम बुद्ध के पास एक भिक्षु दीक्षित हुआ था। उस भिक्षु का नाम श्रौण था। वो दीक्षित हुआ, दूसरे दिन ही बुद्ध ने उससे कहा : तुम भिक्षा मांगने जाओगे, अभी तो भिक्षा मांगने में निष्णात नहीं हुए : मैंने एक श्राविका को कह रखा है, उसके घर तुम चले जाना--वहां तुम्हें भोजन मिल जायेगा। जब तक तुम भिक्षु के जीवन से परिचित न हो जाओ तब तक वहीं जाके भोजन ले लेना। श्रौण विहार से दो मील का रास्ता तय करके उस श्राविका के घर भोजन करने गया। मैं उसको अपनी आंखों में देखता हूं। वो निकला होगा विहार से, वो दो मील का रास्ता तय किया, बहुत स्मृतियाँ उसके मन में उठीं—स्वाभाविक था। कल तक वो राजकुमार था, आज भिक्षु था। कल तक उसके पास सब कुछ था, आज सबको छोड़कर अगृही हो गया था। उसकी सारी स्मृतियाँ जीवन की फिल्म की तरह उसके मन पर दौड़ गईं। राह में उसे स्मरण आया जो-जो भोजन उसे प्रिय थे। जिन-जिन भोजन करने का उसका मन होता था—वे सब उसे याद आये। उसे याद आया कल तक घर में मां थी, पत्नी थी, जो भी मुझे प्रिय थ—मिलता था। आज अपरिचित द्वार, अपरिचित व्यक्ति, न जाने रूखा-सूखा क्या खाने को मिलने को है। वो ये सोचता हुआ, विचारों में डूबा हुआ—उस श्राविका के घर पहुंचा। जब वो भोजन को बैठा—बहुत हैरान हुआ—जो-जो भोजन उसे प्रिय थे वे उसकी थाली में मौजूद थे। उसे बड़ा अजीब सा लगा, उसे बहुत आश्चर्य हुआ फिर उसने सोचा संयोग की बात है। हो सकता है मुझे जो प्रिय है वही आज बना हो। वो भोजन कर रहा था उसे एक विचार आया। आज तो भोजन के बाद उठकर दोपहरी में दो मील का रास्ता तय करना है। रोज तो मैं दो क्षण विश्राम कर लेता था,

लेकिन आज तो पराया घर—विश्राम को कौन कहेगा। वो श्राविका सामने ही पंखा झलती थी। उसने कहा : भन्ते, अगर भोजन के बाद दो क्षण विश्राम कर लें तो बड़ा अनुगृह हो—मेरे ऊपर बड़ी कृपा हो—मुझे बहुत आनन्द होगा। उसके मन में फिर ख्याल आया—क्या बात है—फिर उसने सोचा, सहज शिष्टाचार बस सहज कहा होगा। विश्राम करने को चटाई बिछा दी गई, वो उस पर विश्राम करने को लेटा। जब वो विश्राम कर रहा था, उसके मन में एक विचार दौड़ा : आज ये सारा पराया है, आज अपना कोई मकान नहीं—अपनी कोई सत्ता शैय्या नहीं, आज अपना कुछ भी नहीं है। उस श्राविका ने कहा : भिक्षु जी, शैय्या किसी की भी नहीं, मकान भी किसी का नहीं है, हम सब एकसे जमीन पर और आसमान के नीचे हैं—कौन किसका है, क्या किसका है, वो भिक्षु उठके बैठ गया—अब संयोग असंभव था। उसने सोचा : क्या बात है, क्या मेरे विचार पढ़ लिए जाते हैं। क्या मेरे विचार आप तक संक्रमित हो जाते हैं। जो मैं भीतर सोचता हूं—वो कैसे, आप उसका उत्तर दे देती हैं। मै तो आपसे कहा नहीं हूं। उस श्राविका ने कहा : गौतम बुद्ध के करीब ध्यान का अभ्यास करते-करते—पहिले तो मुझे अपने बिचार दीखना शुरू हुये, पहिले तो मुझे अपने विचारों के प्रति जागृति आई—फिर इसके बाद धीरे-धीरे दूसरों के विचार भी दीखने लगे हैं। वो भिक्षु घबड़ा गया, उसके हाथ-पैर कांपने लगे। उसने कहा : मुझे जाने दें, मैं जाना चाहता हूं। श्राविका बोली : अभी तो विश्राम नहीं हुआ, अभी तो आप लेटे ही थे। लेकिन भिक्षु फिर उस द्वार पर रुका नहीं—वो वापिस बुद्ध के पास गया। उनके पैर छूकर उसने कहा : भगवन्, उस घर में, मैं दुबारा नहीं जा सकूंगा। बुद्ध ने पूछा : क्या हुआ, भोजन रुचिकर नहीं हुआ, ठीक नहीं पड़ा, स्वागत सत्कार नहीं हुआ—असम्मान हुआ है। वो बोला : सम्मान बहुत हुआ है, स्वागत बहुत हुआ—जो भी मुझे प्रिय था, सब वहां मिला। लेकिन एक असुविधा है—मैं वहाँ नहीं जाना चाहता हूं—वो श्राविका दूसरे के विचार पढ़ लेती है। बुद्ध बोले : इसमें दिक्कत क्या है। वो भिक्षु कहा : इसमें दिक्कत है। आज उस सुन्दरी युवती को देखकर मेरे मन में तो वासना के विचार भी उठे थे। जब मैं भोजन करने को बैठा, मेरे भीतर तो विकार दौड़ गए, मेरे भीतर तो अचानक वासना का धुआँ उठ आया था, वो भी पढ़ लिया गया होगा। आज जहाँ मेरा सम्मान हुआ, कल मैं असम्मानित धक्के देकर निकाला जाऊं—वो तो रुचिकर, वो तो प्रीति-

कर नहीं है। बुद्ध ने कहा : मैंने जानकर वहाँ भेजा है, वो तुम्हारी साधना का अंग है। तुम होश को संभाल के जाना, जाना वहीं होगा। उसी श्राविका के द्वार पर जाना होगा। तुम होश को संभाल के जाना, तुम भीतर जागे हुये जाना। कौन उठता है, कौन सिर उठाता है, कौनसे विचार भीतर लहरें लेते हैं, तुम उसको देखते हुये जाना और कुछ मत करना, न तुम लड़ना, न तुम विरोध करना, न तुम समर्थन करना, तुम केवल देखते हुये जाना—केवल साक्षी बनकर जाना। अब श्रोण को वहीं जाना पड़ा। मुझको वो बिल्कुल दिखाई पड़ता है, श्रोण चला—उसी रास्ते पर—कल गया था—उसी रास्ते पर आज चला, लेकिन आज होश से भरा हुआ था। आज भीतर देख रहा था कि कौन उठता है, भीतर कौन गिरता है—आज वो देखता हुआ जा रहा था। शान्त अपने भीतर आंखों को गड़ाये हुये जा रहा था—अपने भीतर परिपूर्ण जागरूक जा रहा था। अपने प्रति पूरा-पूरा साक्षी बना था। आज क्रियायें मूर्च्छित नहीं थीं, आज विचार तंद्रा में नहीं थे। आज विचारों को वो देख रहा था। वो देखता हुआ श्राविका के द्वार पर पहुंचा, उसकी सीढ़ियाँ चढ़ा, पैर भी उसने रखा तो होश से भरा था, सांस भी भीतर और बाहर गई तो दीक्ष रही थी। आप भी होते उसकी जगह और कोई विचार पढ़ने वाला करीब होता—तो ऐसे ही जाग गये होते। उसने भोजन किये—होश से भरा रहा। वो भोजन से उठा—होश से भरा रहा। वो वापिस लौटा, वो नाचता हुआ वापिस लौटा। वो जाके बुद्ध के चरणों में गिर पड़ा और उसने कहा : एक अद्भुत अनुभव हुआ है। आज मैं देखता हुआ गया—तो मैंने अद्भुत अनुभव पाये। एक तो अनुभव पाया कि मैं विचारों से अलग हूं, मैं मन नहीं हूं और जैसे-जैसे ये अनुभव घना हो गया—बीच में ऐसे कुछ क्षण आये जब मैं जागा हुआ था—तो मन नहीं था। जब मैं पूरी तरह जागा हुआ था, तो विचार समाप्त थे। विचार विलीन हो गये थे। बुद्ध ने कहा : मूर्च्छा मन है, मूर्च्छा ही मन है। जागृत हो जायें—मन नहीं पाया जाता है।

परिपूर्ण श्रमण-संस्कृति और श्रमण विचार मन के प्रति जागने का विज्ञान है। महावीर कहे हैं : आयुष्मन्, विवेक से चले, विवेक से उठे, विवेक से बैठे—विवेक का अर्थ है जागरूक—परिपूर्ण, भीतर जागा हुआ—अमूर्च्छित परिपूर्ण होश से भरा हुआ। जो व्यक्ति मन से संघर्ष में और दमन में नहीं उतरेगा और मन के प्रति जागरण का प्रयोग करेगा तो अहिस्ता-अहिस्ता मन मरता

जायेगा और जिस दिन परिपूर्ण जागरूकता भीतर उपलब्ध होगी—पायेगा न मन कभी था और न कभी है और जैसे ही मन का सेतु और धागा टूट गया—शरीर और चेतना का पृथक बोध अनुभूत हो जाता है। उस दिन दर्शन होता है, उस दिन दीखता है—मैं देह नहीं हूं। उस दिन देह के साथ संबंध, सारे बंधन विसर्जित हो जाते हैं। देह के साथ संबद्ध समस्त वासनायें विसर्जित हो जाती हैं, उस दिन उस परिपूर्ण जागृति में, उस परिपूर्ण दर्शन में जीवन-सत्य का बोध होता है। ये विज्ञान—ये विज्ञान ही केवल धर्म का मूल आधार है। इस विज्ञान को अगर हम वापिस लौटा लेते हैं तो हम मनुष्य को पुनः प्रभु में प्रतिष्ठित कर देंगे। और ये सदी इतनी पीड़ा से घिरी है कि प्रभु में प्रतिष्ठित होने को परिपूर्ण रूप से उसकी पृष्ठभूमि बन गई है। धर्म को पुनः जागृत, पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

ये मैं थोड़ी-सी बातें आप से कहा हूं, इस आशा में कहा हूं कि आप अपने मन के प्रति, अपनी देह के प्रति, जागरण के थोड़े से प्रयोग करेंगे और जो आपकी सम्पत्ति है, जो आपकी समृद्धि है—उससे परिचित होना शुरू हो जायेंगे। उसका परिचय आपको दुख के बाहर, दरिद्र के बाहर ले जायेगा—परम आनन्द, सौन्दर्य आपकी संपत्ति बनेंगे। परम अनुभूति में विलीन होकर ज्ञात होगा—जो मैं निरंतर था और जो मैं निरंतर रहा—जिसके अपरिचय के कारण जीवन और मरण का चक्कर था, उसके बाहर हो गया हूं। मनुष्य मन के बाहर हो जाये, चेतना में प्रविष्ट हो जाता है, आत्म-ज्ञान में प्रविष्ट हो जाता है। आत्म-ज्ञान को पा लेना—प्रभु को और सत्य को पा लेना है।

मेरी इन बातों को शान्ति से, प्रीति से, मौन से सुना है—उसके लिए अनुगृहीत हूं। अतः मेरे प्रणाम अपने भीतर बैठे हुए प्रभु के लिए स्वीकार करें।

(भगवान श्री का राजसमन्द में दिया गया एक प्रवचन)

● संकलन : *स्वामी दयाल भारती,*
जबलपुर

एकोऽहं बहुस्याम्

वे प्रभु-प्रेमियों की नहीं
मेरी ही हजार-हजार आंखें हैं
जिनसे मैं उस प्रभु की
एक से एक आला—एक से एक
उम्दा छवियां
अपने मन के केमरे में
संजोता रहता हूं
और 'रील' कभी खत्म नहीं होती।

हजार-हजार कर्ण-पुटों से
उसका वचनामृत पिया करता हूं
और प्यास बढ़ती ही जाती है।

उस प्रभु के आगे
अनेक-अनेक समारोहों में
मैं ही थिरक रहा हूं—नृत्य बनकर
संगीत बनकर मैं ही गूंज रहा हूं।

प्रभु के बरसते हुए प्रेम में
जो-जो भीगा है
वह मेरा ही एक-एक अंग है।

उन सब में मैं ही हूं जिनका जीवन
उसका स्पर्श पाकर
आनन्द का उत्सव बन गया है।

अब मैं सहस्रमुख हो गया हूं
जिनसे हंसी के फूल झरते हैं—
प्रभु के चरणों में
अर्पित हो जाने के लिये।
अब मैं सहस्रकण्ठ हो गया हूं
जिनसे गीतों के मधुर झरने
बह निकलते हैं
सब तक पहुंच जाने के लिये।
मैं इस विराट अस्तित्व में
प्रभु-प्रेमियों की बाढ़ के रूप में
फैलता चला जा रहा हूं।

इन भक्तों की आंखों से आंसुओं की
धाराएं बहती देखकर
अब ऐसा नहीं लगता
कि वे दूसरों की आंखों से
बह रही हैं।
चाहे 'युक्तांद' में हो
या 'ज्योतिशिखा' में
या अन्य किसी में
अनेक-अनेक संस्मरण, मीठे प्रसंग—
वे सब मेरे ही द्वारा लिखे गये हैं।
अनेक नामों, रूपों, रंगों-ढंगों में
अब मैं ही प्रभु-प्रेमी का
(इसमें प्रेमिका भी सम्मिलित है)
पर्यायवाची बन गया हूं।

● *स्वामी योग प्रीतम*
भीलवाड़ा, राजस्थान

आज फिर

आज फिर
मैं तुम्हारे लिए एक गीत
लिखना चाहता था,
सच यह है कि
'गीत लिखना चाहता था' कहना
ठीक नहीं
क्योंकि अब मुझे लिखना नहीं पड़ता
तुम भीतर इस संपूर्णता से
समा गए हो
कि मेरे शरीर का रोम-रोम
और मन का कोना-कोना
और हृदय की धड़कन-धड़कन
सब कुछ संगीतमय हो गया है,
सच, तुम्हें लिखने के लिये मुझे
कुछ नहीं करना पड़ता...
आंखें बन्द कर
तुम्हारा स्मरण करता हूं
और बस, गीत झरने लगता है,
हाँ तो, आज फिर
मैं तुम्हारे लिए एक गीत
लिखना चाहता था
मगर नहीं लिखा हूं
और शायद भविष्य में भी
नहीं लिखूंगा
क्योंकि अब मुझे लगता है, कि
गीत लिखकर भी
प्रेम की गहनता को मैं
कम करता रहा हूं
अतः अब उसे पूरी सघनता में
जीना चाहता हूं
और उसके गहरे-गुह्यतम
रहस्यों में डूबना—
बस डूबता चला जाना...
जब तक कि मैं निःशेष न हो जाऊं।
हां, अब मैं शायद भविष्य में
कभी गीत न लिख सकूंगा...
तथापि—मेरे गीतों का कोई प्रेमी
उन्हें पढ़ना ही चाहे
तो अपनी धड़कनों में पढ़ सकेगा
अपनी सांसों में उन्हें गा सकेगा
और अस्तित्व के कण-कण में
उनकी गूंज सुन सकेगा !
सच ही, मेरे न लिखने से मेरे
गीत समाप्त नहीं हो जायेंगे
वरन् मेरे न लिखने से ही
उन स्वरों का जन्म होगा जो कभी
समाप्त न होंगे यद्यपि कि उन्हें
सुनने व गानेवालों की सदा
कमी रहेगी !

● *स्वामी अगेह भारती*, जबलपुर

★★★★★★

मेरी संन्यास यात्रा

★★★★★★

भगवान श्री और श्री कृष्णमूर्ति मेरे जीवन में दो चमकते तारे हो गये हैं। सूर्य और चन्द्र की भांति दोनों ने मेरे जीवन को आलोक से भर दिया है। अर्जुन की रथ यात्रा पर एक कृष्ण बैठा था। लेकिन मेरा रथ इन दो सारथिओं ने संभाल लिया है।

प्रभु के प्रति थोड़ी प्यास थी, इसलिए बहुत ग्रंथ और पोथे पढ़ डाले! इससे मैं पंडित तो हो गया लेकिन प्रेम का फूल न खिला सका। शाब्दिक जाल में फँस गया और शब्दों से ही पता लगाया कि आत्मा क्या है? प्रभु क्या है? लेकिन जीवंत अनुभूति से वंचित रह गया।

एक बार कृष्णमूर्ति पढ़ने में आ गए। "मुक्त जीवन" पढ़ा। जैसे-जैसे पढ़ता गया वैसे-वैसे भीतर जो छिपा था वह दिखाई पड़ने लगा। आज दिन तक जो बाहर और भीतर असंगति थी कृष्णमूर्ति ने उसे मानसिक ढंग से समझाया। जब मैं पढ़ता था तो न पुस्तक रह जाती थी और न मैं। वहाँ सिर्फ आँख अपने जीवन की यथार्थ स्थिति देख रह जाती थी। पढ़ते-पढ़ते ही जीवन में कुछ गांभीर्य,

कुछ शून्यता दिखाई पड़ी। लेकिन तो भी कृष्णमूर्ति को समझ नहीं पाया। मैंने उनको तर्क से, बुद्धि से समझ लिया और सूक्ष्म में विचार में ही था तो अहम् में ही फंस गया। कृष्णमूर्ति की बात अतर्क की थी। निःशब्द के बारे में संकेत था। अज्ञात की ओर इशारा था। लेकिन मैं शब्दों से उसे किस तरह पा सकता था! तीन साल तक कृष्णमूर्ति ने मुझे डावाँडोल कर दिया। मैं अवेयरनेस को न समझ पाया और सूक्ष्म दमन जारी रहा। विचार को समझने के बजाय उसे हटाना शुरू किया।

भगवान श्री के प्रति भी मेरा आकर्षण पूरा था। उनके स्पष्ट विचारों को पढ़कर मैं उन्हें अधिक चाहता था। कहीं भी अखबार में भगवान के विचारों को देख लेता तो पढ़े बिना न छोड़ता। एक बार महत्वाकांक्षा के बारे में भगवान का प्रवचन भी सुना था। लेकिन मैं छोटा था और समझ नहीं पाया था। एक ही वाक्य उनका याद रह गया था "गुलाब कभी चमेली नहीं बन सकता और न चमेली कभी गुलाब।"

जूनागढ़ में जब उनकी मण्डली आई और अनायास ही स्वामी दिनेश भारती से भेंट हुई। मेरे पास प्रश्न तो बहुत थे। संन्यास के बारे में तो मैं पूरा संदेह से भरा था। यदि परिवर्तन सदा आंतरिक है और व्यक्तिगत क्रांति ही सही और अंतिम क्रांति है तो उसे गेरुए कपड़ों के साथ क्या नाता? माला के साथ क्या नाता? संगीत और नृत्य का ध्यान के साथ क्या नाता? क्योंकि कृष्णमूर्ति कहते हैं कि 'लुकिंग इज मेडिटेशन'। तो फिर यह सब क्यों? कृष्णमूर्ति के जो प्रयोग हैं वह सिर्फ सायकोलॉजीकल हैं या तो विचार के तल पर हैं। भगवान श्री ने शरीर और मन दोनों तल पर प्रयोग करवाये हैं। इसलिए ये जो प्रयोग थे उसमें मुझे बहुत रस था। फिर तो दिनेश भारती के साथ बहुत बातचीत हुई। निष्क्रिय ध्यान का प्रयोग किया। शरीर और मन में जो तनाव था वह ध्यान से आठ दिन तक मैं एकदम शांत, शिथिल रह गया। तब से संकल्प किया कि भगवान श्री के जीवन-दर्शन में गहरा उतर जाना है। जैसे-जैसे साहित्य पढ़ता गया, पागल होता चला। अब तो कृष्णमूर्ति और रजनीश जी दोनों मेरे हृदय पर छाने लगे। भगवान श्री की चोट बहुत गहरी थी। आबू शिविर में जाने का निर्णय ले लिया।

स्कूल चालू था, लेकिन अब पढ़ाई व्यर्थ होने लगी। वर्ग में बैठता तो जीवन सरिता में बहता। जब १२ सेप्टेम्बर को जूनागढ़ से ट्रेन में निकला तब एक ही विचार था—आबू जाकर इस विराट महामानव का दर्शन करना। इतना मैं भर चुका था कि

अंतर से हृदय के तार झंकृत होने लगे थे।

शिविर में आया। संन्यासियों को नृत्य करते देखता तो लगता था कि कितने आनन्द से भरे हैं यह लोग। कोई भी कहीं गांभीर्य न था, मैंने गांभीर्य ही आज दिन तक सीख लिया था। इसलिए जब पहले दिन कीर्तन हुआ और सब लोग नृत्य करने लगे तो मैं तो मुख पर उंगली रखकर विचार में पड़ गया कि यह लोग रजनीश जी की धुन क्यों बुलाते हैं! स्वयं को जानना ही जीवन में सबसे महत्त्व का कार्य है और ये लोग अपने से ही भाग रहे हैं। लेकिन तब मुझे यह भी पता न चला कि मैं भी इन लोगों को देखने में अपने से ही भाग रहा हूं!!

जब भगवान श्री की प्रेम छाया मुझ पर पड़ी तब तो न प्रश्न रहा और न कोई विचार रहा। भीतर आग लगी। कण-कण ऐसा होता था कि उनको देखता ही रहूं.. देखता ही रहूं। अब प्रश्न आया संन्यास का। आबू शिविर में मैं, न तो अपने माता-पिता से बोलके आया था और न तो इसके बारे में लिखा था। जब घर से जूनागढ़ आया था तब इतना ही कहा था कि अब वापिस घर नहीं लौटूंगा। लेकिन जब संन्यास लेने का वक्त आया तब पता चला कि संन्यास में सिर्फ कपड़े नहीं बदलने हैं या माला ही नहीं डालनी है वरन समाज के सामने विद्रोह लेकर खड़ा होना है। अपने भीतर का पूरा परिवर्तन करना है। मैं तीन दिन तक विचार ही करता रहा। लेकिन एक दिन भगवान श्री ने सभा में ही कह दिया कि "कई लोग संन्यास लेने के लिए भी विचार करते हैं! कई लोग घर के भीतर आग लगी देखकर सोच-विचार करते हैं कि घर के बाहर जाऊं या नहीं? परमपिता के अनन्त सागर में कूदने के लिए भी विचार?" मैं तो घबरा गया कि ये महामानव किस तरह मुझे धक्का दे रहे हैं। फिर एक दिन पहुंच गया राजस्थान सरकिट हाउस में। बीमार पड़ गया था। चलने की शक्ति नहीं थी। लेकिन इतने होश से भरा था कि पैदल चल कर ही पहुंच गया। जाकर फार्म भरा। मैं तो शून्य होता चला जा रहा था। जब भगवान श्री के पास गया तो न तो मेरी हिम्मत थी उनके सामने देखने की और न हिम्मत थी कुछ बोलने की। मैं तो चरणों में गिर पड़ा। लेकिन चरण-स्पर्श करने की भी हिम्मत न थी। आह! लायक भी कहाँ था...!

जब उनका प्रेम भरा हाथ मुझ पर पड़ा तब तो मैं पूरा-पूरा भर गया था। प्रेम के आँसुओं के सिवा मेरे पास कुछ भी न था। वे बोले "क्या होना है?" मैंने कहा "साधु", मुझे नाम दिया "साधु सत्यधर्म" और

बोले "पुराने नाम को भूल जाना और यह नाम याद रखना।" मुझे पता भी न था कि ऐसा अंतिम नाम "सत्य ही है धर्म" मुझे दे देंगे। मैं तो हंसता हंसता थोड़ी देर बैठा रहा। भगवान श्री बोले "जाओ", मैं लौट आया। संन्यासियों ने मुझे उठा लिया और एक अवर्ण्य वातावरण का मैंने अनुभव किया!

और अब तो जीवन जो स्वप्न में चल रहा है उसमें कभी-कभी बन्द आँख पर हाथ चला जाता है, और जागने की व्याकुलता और विषाद, विरह से भर जाता हूं। इस महानिद्रा के कारागृह में बाहर से भगवान श्री, कृष्णमूर्ति धक्के दे रहे हैं। मैं कभी-कभी झंकृत हो उठता हूं। कभी-कभी आँख खोलने की कोशिश करता हूं और फिर स्वप्न में लौट जाता हूं। आह! यह अनन्त सागर की पुकार भी कभी-कभी आकर मुझे प्रेम से जगाती है लेकिन मैं अभागा यह द्वार जो अपने ही हाथों से बन्द किया है, कब खोलूंगा।

अब तो सुबह-शाम की धन्यता मेरे जीवन को भर रही है। ऊगते और डूबते सूर्य की सुनहली किरणें मेरे हृदय को आलोकित कर देती हैं। आह! यह गीत गाते पक्षी मेरे जीवन को नृत्य से भर देते हैं। यह मौन शांत और निस्तब्ध खड़े वृक्ष मेरे हृदय उपवन को करुणा से भर देते हैं। ये मदमाती बदलियाँ, यह बरसती चाँदनी मुझे प्रेम से आलिंगन दे रही है। यह हवा की कोमल लहरों पर सवार होकर पुष्प की सुगंध न मालूम मुझे कई-कई संदेश दे जाती है। और हे अनन्त! तेरी करुणा से भर जाता हूं। प्रेम से भर जाता हूं और बहने लगता हूं!!!

मेरे प्रेमपूर्ण प्रणाम।

● *साधु सत्यधर्मी*
जूनागढ़

महावीर

मेरी दृष्टि में : भगवान रजनीश

(भगवान श्री द्वारा १७ सितंबर ६९ से २ अक्टूबर ६९ तक श्रीनगर के पास डल झील स्थित शिविर में दिए गए प्रवचन जो 'महावीर मेरी दृष्टि में' प्रकाशित हो चुके हैं, का संक्षिप्त रूपांतरण।)

★ द्वितीय पुष्प ★

ज्योति तो बस ज्योति है। वह बड़ी-छोटी नहीं होती। और जिसको महावीर में ज्योति दिख जाए—तो सभी आकारों में वह है। ज्योति के निराकार में खोने की क्षमता भी एकसी है। ऐसा नहीं है कि छोटी ज्योति धीरे-धीरे खोती है, बड़ी जल्दी खो जाती है। यह भूल है।

जमीन की कशिश का नियम है कि सभी चीजों को वह समान रूप से खींचती है। किसी छत से एक बड़ा पत्थर नीचे गिराया जाय और छोटा पत्थर नीचे गिराया जाय, तो दोनों एक साथ गिरते हैं।

जमीन की कशिश को तो हम पहचान गए धीरे-धीरे, पर ऊपर की कशिश को हम नहीं पहचान पा रहे हैं, क्योंकि जमीन पर हम सब हैं, उस ऊपर की कशिश को कभी कोई जाता है और जो जाता है वह लौटता नहीं, तो कुछ खबर मिलती नहीं। वह जो ऊपर की कशिश है, उसी का नाम ग्रेस है। इसका ग्रेविटी, उसका ग्रेस। इसका गुरुत्वाकर्षण, उसका प्रभु-प्रसाद। छोटी ज्योति भी निराकार में वैसे ही जाती है, उतनी ही गति से जाती है जितनी बड़ी, वह ग्रेस खींच लेती है निराकार की। इसलिए वहाँ कोई छोटा-बड़ा नहीं, क्योंकि वहाँ छोटे-बड़े का कोई अर्थ नहीं। इससे यह भ्रांति है कि कोई कृष्ण में, कोई क्राइस्ट में, कोई बुद्ध में, कोई महावीर में तौल करने बैठे। कोई कबीर में, नानक में, रमण में, कृष्णमूर्ति में, कोई तौल करने बैठे, कौन बड़ा—कौन छोटा! कोई छोटा-बड़ा नहीं। लेकिन, अनुयायी थोपता है—वह अपने को बड़ा दिखाने के लिए अपने गुरू पर भी बड़प्पन थोपता है। इसीलिए मैंने कहा कि अनुयायी कभी नहीं समझ पाता, समझ ही नहीं सकता। अनुयायी कुछ थोपता है अपनी तरफ से।

समझने के लिए बड़ा सरल चित्त चाहिए, अनुयायी के पास सरल चित्त नहीं। विरोधी भी नहीं समझ पाता क्योंकि वह छोटा करने के आग्रह में होता है, अनुयायी से उल्टी कोशिश में लगा होता है। प्रेम ही समझ पाता है। इसलिए जिसे समझना है, उसे प्रेम करना है और प्रेम सदा बेशर्त है। भगवान को भी सहारा मानकर पकड़ा है, तो शर्त शुरू हो गई, प्रेम खत्म हो गया। प्रेम है बेशर्त। कोई शर्त ही नहीं। प्रेम यह नहीं कहता कि तुम मुझे कुछ देना। प्रेम का मांग से कोई संबंध ही नहीं। जहाँ तक माँग है, वहाँ तक सौदा है, जहाँ तक सौदा है, वहाँ तक प्रेम नहीं

है। सब अनुयायी सौदा करते हैं। इसलिए कोई अनुयायी प्रेम नहीं कर पाता। और विरोधी किसी और से सौदा कर रहा है, इसलिए विरोधी हो गया है। और विरोधी भी इसीलिए हो गया है क्योंकि उसे सौदे का आश्वासन नहीं दिखाई पड़ रहा है कि ये कृष्ण कैसे हो जायेंगे? तो कृष्ण को उसने छोड़ दिया है, इन्कार कर दिया है। प्रेम का मतलब है बेशर्त, प्रेम का मतलब है वह आँख जो परिपूर्ण सहानुभूति से भरी है और समझना चाहती है। माँग कुछ भी नहीं है।

महावीर को समझने के लिए पहली बात तो मैं यह कहना चाहूंगा कि कोई माँग नहीं, कोई सौदा नहीं, कोई अनुकरण नहीं, कोई अनुयायी का भाव नहीं। एक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से कि व्यक्ति हुआ, जिसमें कुछ घटा—हम देखें कि क्या घटा, पहचानें क्या घटा? खोजें कि क्या घटा? इसलिए जैन कभी महावीर को नहीं समझ पाएगा। उसकी शर्त बंधी है। जैन महावीर को कभी नहीं समझ सकता। **इसलिए प्रत्येक ज्योति के आसपास अनुयायियों का जो समूह इकट्ठा होता है, वह ज्योति को बुझाने में सहयोगी होता है, उस ज्योति को और जलाने में नहीं।** अनुयायियों से और बड़ा दुश्मन खोजना बहुत मुश्किल है। इन्हें पता ही नहीं कि ये दुश्मनी कर बैठते हैं। अब महावीर का जैन होने से क्या सम्बन्ध? कोई भी नहीं। महावीर को पता ही न होगा कि वे जैन हैं। और पता होगा तो बड़े साधारण आदमी थे, फिर उस असाधारण दुनिया के आदमी नहीं थे, जिसकी हम बात करते हैं। महावीर को पता भी नहीं हो सकता सपने में भी कि मैं जैन हूं। न क्राइस्ट को पता हो सकता है कि मैं ईसाई हूं। और जिनको यह पता है वे समझ नहीं पायेंगे क्योंकि जैसे हम समझने से पहले कुछ हो जाते हैं, तो जो हम हो जाते हैं, वह हमारी समझ में बाधा डालता है; क्योंकि हम हो पहले जाते हैं और फिर हम समझने जाते हैं। समझने जाना हो तो खाली मन जाइए। इसलिए जो जैन नहीं है, बौद्ध नहीं है, हिन्दू नहीं, मुसलमान नहीं, वह समझ सकता है, वह सहानुभूति से देख सकता है। उसकी प्रेमपूर्ण दृष्टि हो सकती है, क्योंकि उसका कोई आग्रह नहीं। उसका अपना होने का कोई आग्रह नहीं। और बड़े मजे की बात है कि हम जन्म से जैन हो जाते हैं, जन्म से ही बौद्ध हो जाते हैं। मतलब जन्म से हमारे धार्मिक होने की संभावना समाप्त हो जाती है। **अगर कभी भी मनुष्य को धार्मिक बनाना हो तो जन्म से धर्म का संबंध बिल्कुल ही तोड़ देना जरूरी है।** जन्म से कोई कैसे

धार्मिक हो सकता है, और जो जन्म से ही पकड़ लिया किसी धर्म को तो वह समझेगा क्या ? समझने का मौका क्या रहा ? अब तो उसका आग्रह निर्मित हो गया—पक्षपात निर्मित हो गया। जैन होकर, कोई महावीर को नहीं समझ पाएगा—क्योंकि जैन होते ही—महावीर को समझने के पूर्व ही वे तीर्थंकर हो गए। समझने के लिए तो सरल चित्त चाहिए जिसका कोई पक्षपात नहीं। यह मैं कह सकता हूं कि महावीर को समझ सका हूं क्योंकि मेरा कोई पक्षपात नहीं, कोई आग्रह नहीं। लेकिन हो सकता है कि मेरी जो समझ हो, वह शास्त्र में न मिले। मिलेगी भी नहीं, न मिलने का कारण पक्का है। क्योंकि शास्त्र उन्होंने लिखे हैं जो बंधे हैं, जिनके अपने पूर्वाग्रह हैं। मेरी समझ शास्त्र से मेल न खाए...और यह मैं आपसे कहना चाहता हूं कि समझ कभी भी शास्त्र से मेल नहीं खाएगी। समझ और शास्त्र में बुनियादी विरोध रहा है। शास्त्र नासमझ ही रचते हैं। नासमझ इन अर्थों में कि वे कुछ सिद्ध करने को आतुर हैं। नासमझ इन अर्थों में कि उनमें समझने की उतनी उत्सुकता नहीं, जितनी कुछ सिद्ध करने की।

(क्रमशः)

जीवनोपयोगी

मनन *(आध्यात्मिक हिन्दी मासिक)*

जिसमें प्रतिमास सन्त-महात्मा व विद्वानों के विचारों को संकलित कर ४० पृष्ठों में मन-मोहक चित्रों सहित दो रंगों में पाठकों तक पहुंचाया जाता है।

मूल्य—१ प्रति : ५० पैसे, वार्षिक : ५ रुपये

प्राप्ति स्थान—

गुप्ता मिल्स इस्टेट, रे रोड, बम्बई–१०

माउण्ट आबू शिविर ५ :

विराट भागवत् लीला

(पिछले अंक में स्वामी अगेह भारती द्वारा लिखित आबू शिविर के जीवन्त संस्मरण 'खबरें', 'कुछ और खबरें' एवं 'प्रेम-प्रसंग' आप पढ़ चुके हैं। 'चमत्कार-चर्चा' के अन्तर्गत आपने पढ़ा कि स्वामी आनंद विमल नामक विद्यार्थी बिना पैसों के शिविर पहुंच गया है। वह रात्रि पैलेस होटल के मैनेजर से मिलने गया है कि ९ दिन के लिए उसे कोई काम दे दिया जाय और बदले में केवल ९ दिनों के भोजन की व्यवस्था...ताकि वह भगवान श्री रजनीश साधना शिविर का लाभ ले सके। इसके आगे क्या हुआ, कृपया यहाँ पढ़ें। —सं०)

दूसरे दिन प्रातः यह युवक संन्यासी दौड़कर मेरे गले से लिपट जाता है। कहता है चमत्कार हो गया। मैनेजर ने मुझे रूम नं० ३० 'एलाट' कर दिया है और कोई काम भी नहीं दिया। कहने लगा : "काम करने को तो आदमी बहुत हैं, आप तो वैसे ही ठहर जायं।" दोनों समय भोजन मिलेगा। सुबह बटर, टोस्ट, आदि का नाश्ता, नहाने का साबुन वगैरह सब आवश्यक चीजों की व्यवस्था है। मैं भी आनन्द विस्मय सिहर उठता हूं। पैलेस होटल में ठहरना साधारण स्थिति वाले आदमी के वश के बाहर की बात है। और यह भगवान का साधारण भक्त जिसकी जेब में कुल एक रुपये बचे हैं वह 'पैलेस' में ठहरा है जहां ८० रुपये शायद एक दिन का कम से कम चार्ज है। यह चमत्कार नहीं तो और क्या है।

विमल ने मुझे बताया कि एक समस्या और रह गई है। मैंने पूछा : "वह क्या ?" उसने कहा : 'वापस जयपुर जाने का किराया ?' मैंने कहा : अब इतना हो गया तो वह भी हो जायगा। संध्या मैंने अपने मित्र स्वामी आनंद वेदान्त से पूरा किस्सा बताया तो उन्होंने मुझे २० रुपये दिए कि किराये के लिये दे देना।...यह सब चमत्कार नहीं तो क्या है ? मैं स्वयं ऐसी स्थिति का आदमी हूं कि अपने बूते पर तो कभी एक शिविर अटेंड कर पाना मुश्किल है। पर हर शिविर

अटेण्ड करता हूं। धनी लोग भी बेचारे कई बार नहीं आ पाते। एक माह रह जाता है शिविर को तो परमात्मा का स्मरण करता हूं कि टका पास में नहीं है। शिविर चूकेगा क्या? माना अहमदाबाद जीवन जागृति केन्द्र के मित्र मुझसे प्रवेश शुल्क नहीं लेते पर अन्य खर्च...? और १५–२० दिन रह जायेंगे शिविर के तभी किसी मित्र का पत्र आएगा : तुम शिविर आ रहे हो या नहीं? आना जरूर। खर्चे की चिन्ता मत करना। मेरा आतिथ्य स्वीकार करोगे तो अनुगृहीत हूंगा। मुझे भगवान श्री का स्मरण हो आता है, भगवान श्री जब ३० जून ७० को बम्बई जा रहे थे तो स्टेशन पर बिदा के समय उन्होंने कहा था— "तुम अगस्त में आजोल शिविर आ जाना। खर्चे की चिन्ता मत करना।" मेरा रोम-रोम अनुग्रह में डूब जाता है। आंखों से आंसू निकल पड़ते हैं कि हे प्रभु तेरी अनुकम्पा अपार है।

● ●

स्वामी अनन्त की बात भी मुझे ठीक लगती है कि कितने लोगों के रंग–रूप भी भगवान श्री जैसे होते जा रहे हैं। किसी का चेहरा, किसी की आंख, किसी की चितवन, किसी का स्वर, किसी की दाढ़ी। सचमुच यह चमत्कार है। स्वतः होता जा रहा है ऐसा। शायद ही पृथ्वी पर ऐसा कभी हुआ हो।

अमृतसर के स्वामी आनंद कबीर व साधु धर्म भिक्षु वृन्दावन लाज में ठहरे हैं। उनके पास हम गए हैं टेप पर अमृतसर में भगवान श्री की मीटिंग में हुए शोर व डिस्टर्बेंस सुनने। दोनों प्रेमी भगवान श्री के गुणगान करते थकते नहीं। बताते हैं स्वामी आनंद कबीर की कोठी जहाँ है वहाँ, उस 'लोकलिटी' में २०० कोठियां हैं। सभी के बगीचे हैं, अच्छी खाद का प्रबन्ध है, माली हैं सब कुछ है। मैं तो खाद भी नहीं देता पर हमारे बगीचे में जैसे फूल खिलते हैं वहां किसी भी बगीचे में नहीं खिलते। पास-पड़ोस के लोग कहते भी हैं कि तुम तो खास कुछ करते भी नहीं, पर इतने सुन्दर फूल! मैं कहता हूं यहां भगवान श्री के चरण एक बार पड़े हैं, इसके अतिरिक्त मुझको कोई कारण नजर नहीं आता। जमीन वही है, फूलों के बीज वही हैं। आप पानी भी अधिक नियमित देते हैं, खाद भी...पर फूल यहाँ अधिक बुलन्दी से खिलते हैं।

● ●

पांच शिविर माउण्ट आबू में हुए। प्रभु की असीम अनुकम्पा से मैं पाँचों में सम्मिलित हो सका। और लगभग हर बार शिविर जाते समय वापसी के लिए अहमदाबाद से

बड़ौदा के लिए गुजरात मेल में रिजर्वेशन तो हुआ ही रहता, हर बार प्रथम श्रेणी ठीक भगवान श्री के वातानुकूल डिब्बे के बगल में रहता है जिससे ट्रेन छूटने के अंतिम क्षण तक प्रेमियों द्वारा भगवान श्री की विदाई देखने का सौभाग्य मिलता है। अक्टूबर में जब आबू रोड से चला तो साथ में मा योग विभूति, मा योग सम्बोधि व स्वामी आनंद वेदान्त भी थे। मैंने कहा, काश सदा की भांति इस बार भी भगवान श्री की कोच के बगल में ही मेरा रिजर्वेशन हुआ होता। मा योग विभूति कहने लगी यह तो ज्यादती है। रिजर्वेशन हुआ हो इतना ही काफी है। अब डिब्बा भी भगवान के डिब्बे के बगलवाला हो यह ज्यादती है। मेरे मुंह से निकला—भगवान श्री के सिवा कौन है जिससे ज्यादती की जाय। फिर जो कामना भीतर सहज उठ गई, वह उठ गई। अतः कामना यही है प्रभु से कि रिजर्वेशन भी हुआ हो और बगल में हो। अहमदाबाद जाकर हमने देखा तो पुनः भगवान श्री के बगल वाले डिब्बे में रिजर्वेशन। पांच बार ऐसा हुआ। समझ नहीं पाता, इसे आकस्मिक कहा जाय या क्या कहा जाय ?

इस बार श्री सूर्य प्रसाद भट्ट जो कि उज्जैन में हाई स्कूल के शिक्षक हैं उनकी अटैची सारी नकद राशि के साथ प्रथम दिन ही कहीं गुम गई। १५।४ की प्रातः जब शिविर-समाप्ति के बाद भगवान श्री अहमदाबाद के लिए प्रस्थान कर रहे हैं और सैकड़ों संन्यासी-संन्यासिनें नृत्य कर-करके उन्हें बिदा दे रहे हैं (जिनमें कि उपर्युक्त भट्ट जी भी थे) तभी कोई आदमी दौड़ता हुआ आता है और भगवान श्री की कार के सामने ही वह अटैची रख देता है कि यह आप लोगों में से किसी की तो नहीं है, अमुक स्थान पर पड़ी मिली है। भट्ट जी का सामान व पूरी धन राशि सभी कुछ सुरक्षित था।

● ●

और सबसे बड़ा चमत्कार तो यह है कि दो हाथ दो पैर के दिखने वाले रजनीश जी के इशारों पर हजारों-हजार लोग सारी सभ्यता व सारे समाज की चिन्ता छोड़ नाच रहे हैं, गा रहे हैं, रो व चीख चिल्ला रहे हैं। इनमें गजटेड भी हैं, नान गजटेड भी। नेता भी हैं, अनेता भी। स्त्री भी, पुरुष भी। बच्चे भी, वृद्ध भी। देशी भी, विदेशी भी। जब भगवान श्री की अमृत वाणी झरती है तो प्रेम का वह कौन सा स्रोत छू जाता है जिससे साधकों के आंसू बह निकलते हैं। प्यास व अभीप्सा का वह कौन सा तार छिड़ जाता है कि साधक चीत्कार कर उठते हैं। आनंद की वह कौन

सी आजादी अनुभूति स्पंदित हो जाती है कि वृद्ध भी बच्चों जैसे नाच उठते हैं। इससे बड़ा चमत्कार क्या हो सकता है ? इससे बड़ा चमत्कार तो अब शायद उसी दिन होगा जब मैं भी महाशून्य हो जाऊंगा और समस्त भूमण्डल पर नाचता और रजनीश के गुण गाता फिरूंगा। हे प्रभु! वह दिन कब आएगा ? मुझ पापी के हृदय में वह फूल कब खिलेगा जिससे तीनों लोक सुगन्ध से भर जाएगा ? मेरे भीतर उस आलोक का उदय कब होगा कि उस आलोक में सारा जगत नहा उठेगा जैसे तुम्हारे आलोक में हम नहा रहे हैं!!

●

नग्नता

एक दिन कई मित्रों ने भगवान श्री से लिखकर प्रश्न पूछा कि इस बार साधना के समय नग्न होने की मनाही क्यों की गई है ? क्या सत्य को भी परिस्थिति वश झुक जाना पड़ता है ? इन पूछने वालों में ग्वालियर की श्रीमती लक्ष्मी मिश्र व भीलवाड़ा के साधु कबीर शरण भी थे। इस प्रश्न को पूछने वाले सचमुच धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि इससे साधकों के समक्ष नग्नता संबंधी बहुत से पक्ष स्पष्ट हुए। और इस सबसे बढ़कर धन्यवाद इसलिए देता हूं कि इस प्रश्न का उत्तर देते समय भगवान श्री के उस रूप की थोड़ी झलक मिली जो मुझे अन्य सब रूपों से अधिक प्रिय है। हाँ, जो भगवान श्री को प्रेम करते हैं उन्हें भगवान श्री के अनेक रूप दिखते हैं। विभिन्न रूपों वाली इस बात को यहीं छोड़ देता हूं वर्ना बात बहुत बढ़ जायगी। अतः उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में भगवान श्री ने क्या कहा वह यथावत् बाद में प्रकाशित होगा। अभी तो कुछेक प्वाइंटस लिखता हूं। भगवान श्री ने कहा—

कुछ मित्रों ने प्रश्न पूछे हैं। लगभग सभी के प्रश्न साधना के समय नग्न होने से संबंधित हैं। एक मित्र ने पूछा है कि इस बार नग्नता पर रोक क्यों लगाई गई है, क्या उसका उपयोग नहीं है ? नग्नता का तो बहुत उपयोग है। अगर नग्नता का संबंध तुम्हारे वस्त्रों से ही होता तब तो कोई उपयोग न था पर तुम्हारे वस्त्रों के साथ तुम्हारी सभ्यता, तुम्हारी संस्कृति तुम्हारी शिक्षा, तुम्हारे संस्कार सभी जुड़े हैं। इसलिए जब कोई वस्त्र उतार कर रख देता है तो वह वस्त्र नहीं उतारता बल्कि सभ्यता, संस्कार, शिक्षा, आडंबर सभी कुछ उतार कर रख देता है और बच्चों जैसा सरल हो जाता है। तो उपयोग तो बहुत है। पर इस शिविर में मजबूरी थी। मजबूरी ऐसी थी कि या तो शिविर हो तो नग्नता की सुविधा न हो

सकेगी। या नग्नता की सुविधा करनी हो तो शिविर न हो सकेगा। तो दोनों में जो कम बुराई थी वही चुन लेनी उचित समझी। क्योंकि राजस्थान सरकार ने केवल दो दिन पहले खबर भेज दी कि वह अपना कोई मैदान, अपनी कोई संस्था, अपना कोई भवन नहीं दे सकेंगे। दो दिन में कोई भी व्यवस्था होनी मुश्किल थी। और साधक सारी दुनियां से आ चुके थे। भारत के साधक तो आने ही वाले थे भारत के बाहर के साधक आ चुके थे। और कोई उपाय न था। और सरकार को इतना तो हक है ही कि वह अपनी जमीन के लिए इंकार कर दे कि वहां नग्न कोई नहीं हो सकेगा। उसके हक में भी कोई बुराई नहीं है। यहां इस पैलेस होटल में जहां व्यवस्था की गई है होटल व्यवस्थापकों की भी मजबूरी है। वे भी साहस नहीं जुटा सकते कि नग्न होने का मौका दें। क्योंकि उनके लिए सवाल व्यवसाय का है। तो इसलिए मजबूरी थी कि नग्नता पर प्रतिबन्ध लगा देना पड़ा। लेकिन इससे आप यह न समझें कि हमने कोई साधना की पद्धति बदल दी है। और इससे आप यह भी न समझें कि सरकार के सामने कोई हम झुक गये हैं (तालियां)। ये सारी बातें नहीं हैं।...न तो कोई झुकने का सवाल है।... सरकार ने हमें एक सुविधा ही दी और उससे लाभ ही होगा कि हम अपनी ही व्यवस्था शीघ्र कर पायेंगे जहां किसी का कोई प्रतिबन्ध न हो। सरकार की अपनी मजबूरियाँ हैं। उसके ऊपर दबाव हैं समाज के, समूह के, संस्कारों के। लेकिन हमारी निजी व्यवस्था हो तो उस पर कोई दबाव डाला नहीं जा सकता। वह हमारी निजी व्यवस्था होगी, उसके भीतर जो नग्न होना चाहें, वह हो सकते हैं। ...

...जीवन को बदलने की जो भी प्रक्रियाएं हैं वे आम तौर से समूह की धारणा के प्रतिकूल पड़ जाती हैं।... संन्यास का तो अर्थ ही है समाज की धारणाओं के पार जाना। संन्यास समाज को छोड़ना नहीं है क्योंकि समाज को तो छोड़ा नहीं जा सकता। संन्यास है समाज की धारणाओं को छोड़ना।

.. इसका मतलब यह भी नहीं है कि मैं कोई नग्नतावाद का प्रचारक हूं। नग्न होना एक बात है—नग्नता का प्रदर्शन करना बिल्कुल दूसरी बात है। वह रोग है। इसलिए मैं नग्न होने की छूट देता हूं तो इसका मतलब यह नहीं कि आप सड़क पर नग्न हो जायँ। सड़क आपकी ही नहीं है। वहां और भी लोग रहते हैं। अगर वे और लोग आपको नग्न देखना पसंद नहीं करते तो आपको वहाँ नग्न होकर उनकी आँखों पर आक्रमण करने का कोई हक नहीं है। मैं तो

जैन मुनि जो नग्न घूमते हैं उसे भी गलत कहता हूं। लेकिन मैं सड़क के लोगों से भी कहना चाहता हूं कि उनका भी यह हक नहीं है कि कोई एकान्त, निर्जन में, अपनी व्यवस्था के भीतर नग्न खड़ा हो तो वे उसमें अड़चन पैदा करें। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्य होना चाहिए। लेकिन ध्यान रहे स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है।...

समाज इसके लिए राजी होगा यह जरूरी नहीं है क्योंकि समाज तो उन्हीं रुग्ण बातों से भरा पड़ा है। अखबार, पत्रकार, सरकार ये राजी नहीं होंगे। और राजनेता पदों पर जो बैठे हैं उन्हें जरा भी आध्यात्म की झलक होती तो वहाँ नहीं होते। उनको राजी करने की कोई जरूरत भी नहीं है। उनकी तरफ ध्यान देने की भी जरूरत नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं।.. इतना तो तय है कि वे बाधा व अड़चन तो डाल सकते हैं। लेकिन अड़चन भी तभी डाल सकते हैं जब आप नग्नता को रोग की तरह पकड़ लें। नहीं तो वे भी बाधा नहीं डाल सकते।... यदि आपको नग्न होने में रस कम है, आपको रस इसमें है कि आपको कोई नग्न देखे तब तो बात ही व्यर्थ हो गई।...

जीवन में झुकने की कोई भी जरूरत नहीं है लेकिन जीवन में व्यर्थ अकड़े रहने की भी कोई जरूरत नहीं है। दोनों के बीच राह खोज लेनी जरूरी है। अब एक मोटर आ रही हो और आप सड़क पर अकड़ कर खड़े रहें कि मैं हटूंगा नहीं क्योंकि मैं डरता नहीं हूं, तो यह नासमझी है। **और मैं किसी भी मामले में अन्धा नहीं हूं और किसी भी मामले में मुझे किसी भी तरह का पागलपन नहीं है। जो करने से ज्यादा लोगों को लाभ हो सकता है, मैं वही करता रहूंगा।"**

● ●

भगवान श्री ने ६ अप्रैल रात्रि के प्रवचन में भी कहा था—"...वे कहते हैं ध्यान इस तरह थोड़े ही होता है। नाचने-कूदने से ध्यान का क्या संबंध? मानो वे जानते हैं ध्यान कैसे होता है। मानो वे ध्यान कभी करते हैं। नहीं, किसी भी चीज का स्वयं प्रयोग किए बिना उस संबंध में कुछ कहना मूढ़ता है।"

मैं समझता हूं भगवान श्री की उपर्युक्त बात राजस्थान सरकार के संदर्भ में तो ठीक है ही, उन सबके लिए भी विचारणीय है जो तथाकथित बुद्धिमान हैं और उल्टी-सीधी टिप्पणी करते रहते हैं।

● ●

फिर एक दिन भगवान श्री ने साधकों को कैसा कसा। उन्होंने कहा

"राजनीति नपुन्सकों की यात्रा है और ध्यान रहे मैं सारी बातों को राजनीति कहता हूं जो बाहर से शक्ति देती है चाहे आप शास्त्र पढ़ के ज्ञानी हों, चाहे...।" संदर्भ था शक्ति की अभीप्सा, भगवान श्री ने कहा : भीतरी शक्ति की अभीप्सा मात्र धार्मिक है। बाहर से शक्ति मिलती है तो उसका दिखावा बाहर होता है।...कोई पहचाने या न पहचाने, आत्म खोजी की यह समस्या ही नहीं है।"

●

ज्ञातव्य है कि सरकार के बड़े-बड़े अधिकारी नित्य हर प्रवचन के समय उपस्थित रहते थे। हर ध्यान के समय उपस्थित रहते थे। उनकी जीपों की लाइन लगी रहती थी।

●

विदा के क्षण

सदा की भांति इस बार भी भगवान श्री की विदाई माउण्ट आबू पर १५।४ की प्रातः देखने लायक थी। भगवान श्री की गाड़ी, मैं समझता हूं आध घण्टे तक रुकी रहनी पड़ी। प्रेमियों-भक्तों के नृत्य-कीर्तन भगवान श्री की कार के सामने व अगल-बगल। और अहमदाबाद में सन्ध्या जैसी विदाई गुजरात मेल पर हुई, ऐसी बिदाई इसके पूर्व मैंने नहीं देखी है। सच, अब तो मित्रों को भगवान श्री के आसपास प्रबन्ध करना चाहिए। इतनी भीड़...इतनी भीड़... भगवान श्री पसीना-पसीना हुए जाते थे। सरसों फेंकें तो जमीन पर न गिरे ऊपर ही रुकी रहे, इतनी भीड़। और उस मनो के भाग्य को क्या कहें जो चाय बेचने का कार्य करता है और अब भगवान श्री की असीम अनुकम्पा से स्वामी दयानन्द हो गया है। उसे किसी विदेशी मित्र ने अपने कंधों पर बैठाल लिया है। वह कंधों पर बैठे-बैठे नाच रहा है दोनों हाथ जोड़े। भगवान श्री की ओर जुड़े हुए दोनों हाथ बढ़ा देता है, भगवान श्री उसके हाथ का स्पर्श करते हैं। वह कंधों पर से कूद पड़ता है और नृत्य कर-करके पागल हो जाता है। प्लेटफार्म के उसके सारे साथी उसके भाग्य को देखते–सराहते हैं।...भगवान श्री की जिस भाँति विदाई हो रही है वह अभूतपूर्व है। पुष्पों की वर्षा की बाढ़ ही है। फूल रास्ते पर बिछा दिए गए हैं। और कहाँ तक कहूं, वह जो शब्दों के पार है..... !!!

दीवानों का दीवाना

भगवान श्री के एक-एक भक्त के संबंध में यहाँ लिखा जाना संभव नहीं है हालांकि चाहता तो हूं। क्यों कि एक-एक भक्त मुझे इतना अनूठा व बेजोड़ दिखता है कि सच, मैं तो

इन दीवानों का दीवाना हो गया हूं। भगवान श्री तो लिखने की पकड़ के सर्वथा बाहर हैं। कितना भी लिखूं वे पूरे के पूरे बाहर छूट जाते हैं। अतः लिखने बैठूं तो प्रेमियों की ही चर्चा अधिक हो जाय, यही स्वाभाविक है। प्रेमियों के बारे में लिखने से ही भगवान श्री की ओर कुछ इंगित हो सके तो हो सके। सीधे भगवान श्री के संबंध में कुछ लिखना कितना असंभव हो गया है। हृदय जो जानता है, जो अनुभव करता है, वह शब्दों में तनिक भी तो नहीं आ पाता। भगवान श्री के प्रेमी जहाँ भी हों उनके चरणों में मेरे शत् शत् वंदन।

● *स्वामी अगेह भारती,*
जबलपुर

भगवान श्री रजनीश की अमृत-वाणी की एक नवीन हिन्दी मासिक पत्रिका का

—: शुभारंभ :—

★ आ नं द ★

संपादक : स्वामी चैतन्य कीर्ति

२६१, माडल ग्राम, लुधियाना (पंजाब)

मूल्य—एक प्रति : 9 रुपया, वार्षिक : 90 रुपये

सदस्यता लेकर लाभ उठावें।

नई ज्योतियां ! दिव्य वाणी ! जीवन संगीत से आलोकित !

नई साज सज्जा में

भगवान रजनीश के विचारों की आध्यात्मिक त्रैमासिक संकलन पत्रिका

ज्योति शिखा

संपादन : मा योग क्रांति, स्वामी कृष्ण कबीर

वार्षिक : मूल्य ८ रु.

संपर्क : जीवन जागृति केन्द्र,

३१, इजरायल मोहल्ला, भगवान भुवन,

मस्जिद बंदर रोड, बम्बई–९

Phone : 327618

अज्ञात के

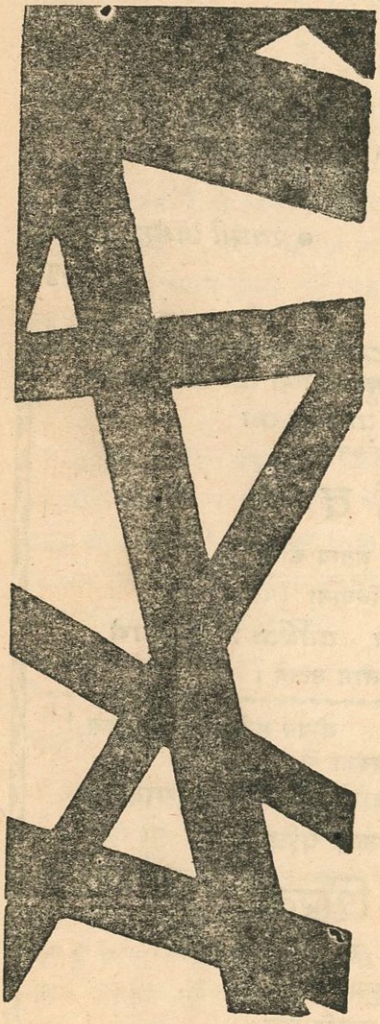

नये आयाम

प्रश्न : नयी कला (माडर्न आर्ट) बिल्कुल ही अजूबा हो गई है । इसमें कलाकार क्या अभिव्यक्त करना चाहता है ?

भगवान श्री :

असल में अगर ठीक से हम देखें तो सारी कलाएं जैसे-जैसे सत्य को बताने की दिशा में आगे बढ़ेंगी वैसे-वैसे सत्य को बताने में तो समर्थ न होंगी, जो कुछ बता पा रहीं थीं उसको भी बताने में असमर्थ हो जायेंगी । वैसे हुआ है, हो रहा है । नयी मूर्ति है या नयी पेंटिंग है या नयी कविता या नया संगीत है, चेष्टा है इस बात की वह जो फार्म बाधा डालता है, वह जो आकार और वह आकृति और वह जो मीडियम बाधा डालता है, उससे हम मुक्त होकर के इतना 'ट्रांसपरेंट' हो सकें कि वह बाधा न डाले, बल्कि मार्ग बन जाय । लेकिन परिणाम क्या होता है ? परिणाम यह होता है कि वह बाधा डालता है । अगर उससे हम मुक्त होने की कोशिश करते हैं तो हम मुक्त तो हो जाते हैं, लेकिन तब वह 'ट्रांसपरेंसी' ही रह जाती है, उससे कुछ आगे आरपार कुछ दिखायी नहीं पड़ता; क्योंकि वह जो दिखायी पड़ता था वह आकार ही था । मैं इस तरह के शब्दों का उपयोग कर सकता हूं जो बाधा न डालें मगर वे सब शब्द अर्थहीन होंगे, 'ओम' जैसे शब्द होंगे,

उनका कोई मतलब नहीं है। हमने बहुत पहले इसका प्रयोग किया था इसीलिए कि यह अर्थहीन है। इसका उपयोग करो, क्योंकि जितने अर्थहीन शब्द हैं सब उपयोग में आकर झंझट में डाल देते हैं और फिर उनसे झंझट नहीं सुलझती। अब यह ओम् है, इसका उच्चारण कर दो, इसका कोई अर्थ नहीं है, इससे कुछ इंगित नहीं होता और इससे हम यह इंगित कर रहे हैं कि कुछ है, जो शब्दों के बाहर है उसके लिए हमने यह शब्द चुना, लेकिन उससे भी क्या फर्क पड़ता है, कितने ही ओम् कहते रहो उससे भी कुछ फर्क नहीं पड़ता, उसका भी इंगित कहीं नहीं हो पाता।

प्रश्न : लेकिन वह मंत्रशास्त्री कहेंगे कि इसका कोई और कारण है उपयोग का ?

भगवान श्री :

वह मंत्रशास्त्री से बात करनी चाहिए। मैं तो यहां यह कह रहा हूं कि नयी कलाएं इस तरह के उपयोग कर रही हैं जो 'एबसर्ड' हैं। इस तरह की मूर्तियाँ बन रही हैं जिनको आप किसी की मूर्ति नहीं कह सकते। अगर आदमी की मूर्ति बनानी है तो ऐसी ही बनानी पड़ेगी कि उसमें किसी का चेहरा न आये, क्योंकि किसी का भी आ जायगा तो वह किसी का हो जायगा। आदमी का नहीं रह जायगा। अब आदमी की अगर मूर्ति बनानी है तो उसमें मेरा चेहरा नहीं होना चाहिए, आपका चेहरा नहीं होना चाहिए, उसमें किसी का चेहरा नहीं होना चाहिए। उसमें कोई 'पर्टीकुलर' चेहरा हुआ कि वह किसी आदमी का हो जायगा, आदमियत का न रह जायगा। तो हम एक ऐसी मूर्ति बनायें, जिसमें किसी का चेहरा न हो। बन जायेगी ऐसी मूर्ति, लेकिन हम सोचते थे कि वह आदमियत की बन जायगी, लेकिन वह एक आदमी की भी न रह जायगी। जो मैं कह रहा हूं वह यह कह रहा हूं कि आदमियत की तो बनेगी नहीं, वह जो एक आदमी की बन सकती थी वह भी नहीं बनेगी अब, अब वहां से भी विदा हो जायगी, वह 'फेसलेस' हो जायेगी। आदमियत की बनाने में सिर्फ चेहरा खो जायगा और ऐसे ही हुआ है, **इसलिए नयी कला के सारे के सारे प्रयोग 'फेसलेसनेस' की तरफ हैं। सब चेहरे खो गये हैं वहाँ और सब हमारी समझ के बाहर हो गया। और जो लोग कहते हैं कि हमारी समझ में आ रहा है, वे या तो फैशन की वजह से कहते हैं या इस वजह से कहते हैं कि वे नहीं तो बुद्धिहीन मालूम पड़ेंगे।** बाकी नयी कला के सारे आयाम, सारे 'डाइमेंशंस' ऐसे हैं कि वे आपको समझ में नहीं आ रहे हैं, न आना चाहिए। कोशिश यह है कि समझ में

आ गये, तो अर्थ पकड़ में आ गया आपके और अर्थ अगर पकड़ में आ गया आपके, तो आकार पकड़ में आ गया, फार्म हो गया, बात खत्म हो गयी। नहीं, जो समझ में नहीं आ रहा है, यही तो सारी चेष्टा है कि समझ में आपके न आ जाय, **लेकिन समझ में आने वाले शब्द से भी नहीं बता पाते थे, ना समझ में आने वाले शब्द से क्या बता पायेंगे ?** यानी मैं यह कह रहा हूं कि जब समझ में आने वाला शब्द ही नहीं बता पाता तो समझ में न आने वाला शब्द भी नहीं बता पायेगा। इसका मेरा मतलब क्या है ? मेरा मतलब यह है कि यदि हमें बुद्धि की पूरी की पूरी असमर्थता का बोध हो जाय, उसमें जरा भी आशा नहीं रह जाय। 'होपिंग अगेंस्ट होप' चल रही है, बहुत दिनों से वह चलती जाती है। कुछ लोग छिटक जाते हैं रास्ते के किनारे और वह कह देते हैं होपलेस हो गया मामला, उनकी बात अलग है। लेकिन आमतौर से हम आशा बांधे चले जाते हैं कि कोई रास्ता खोज लेंगे। अगर कालिदास नहीं खोज पाये तो इजरा खोज लेंगे। अगर हमारे मूर्तिकार पुराने नहीं खोज पाये, तो पिकासो खोज लेगा। **हम कोशिश में लगे हैं कि कोई न कोई रास्ता खोज लेंगे कि जो न कहे जाने जैसा वह है, वह हम कह देंगे।** मैं यह कह रहा हूं कि जिस दिन किसी व्यक्ति को यह समझ में आ जाता है कि यह मामला 'एज सच एब्सर्ड' है, यानी यह सवाल नहीं है कि हम और किसी तरकीब से कह देंगे, सवाल यह है कि कहा ही नहीं जा सकता। यह सवाल नहीं है कि हम कोई और अच्छे शब्द खोज लेंगे, अच्छी आकृति, अच्छी कविता, अच्छी पेंटिंग। नहीं, यह सवाल नहीं है। जो है वह कहा जाने योग्य भी नहीं है। ऐसा नहीं है कि आज तक नहीं कहा गया, आगे कहा जा सकेगा। नहीं, वह कहा ही नहीं जा सकता। वह जो 'रियलिटी' जिसको आप कह रहे हैं वह कही नहीं जा सकती। तब इसका मतलब यह है कि वह सिर्फ जानी जा सकती है और तब जानने और कहने के फर्क और फासले को समझ लेना उपयोगी होगा। वह जो नहीं कहा जा सकता वह भी माना जा सकता है। **हमारी क्या तकलीफ है कि हम यह कोशिश में लगे हैं कि जो जाना जा सकता है वह कहा भी जाना चाहिए।** हमारी जो सारी तकलीफ है वह इसी वजह से है। जैसे बुद्ध कहते हैं, मैंने जाना निर्वाण। तो हम यह पूछते हैं कि कहो, क्या है निर्वाण ? एक आदमी कहता है, मैंने ईश्वर को जाना, तो हम यह पूछते हैं कि बोलो फिर क्या है ईश्वर ? अगर वह नहीं बोल पाता तो हम हंसते हैं, हम कहते हैं, फिर

जाना ही नहीं होगा, क्योंकि अगर जाना हो तो बोलो और अगर नहीं बोल सकते हो, तो स्वीकार कर लो कि नहीं जाना, क्योंकि जो जाना गया है वह बोला क्यों नहीं जा सकता है।

मैं यह कह रहा हूं, यह बात जरूर सच है। एक मानवीय जरूरत है, एक बुनियादी जरूरत है कि जो हमने जाना है वह हम कहना चाहते हैं, क्योंकि जो हमने जाना है उसमें हम दूसरे को साझीदार बनाना चाहते हैं। अगर मैं घर के पीछे गया और वहां एक फूल खिला देखा है, जिससे मैं नाचने लगा और आनंदित हो गया, तो मैं लौटकर मित्रों से कह देना चाहता हूं कि पीछे एक फूल खिला है वह बहुत आनंदकर है यानी आनंद का एक हिस्सा बाँटना भी है। दुख का एक हिस्सा न बांटना भी है। अगर मैं दुखी हूं तो चाहूंगा कोई न आये। दुख सिकोड़ देता है और अगर मैं आनंदित हुआ हूं तो मैं बाँट देना चाहता हूं, फैल जाना चाहता हूं और दस लोगों को खबर कर देना चाहता हूं। बिल्कुल स्वाभाविक है कि जो आदमी जाने वह उसे कहने जाय, वह उसकी एक 'बेसिक' जरूरत है, लेकिन हमारी सब जरूरतें जरूरी नहीं हैं कि पूरी हों। हमारी बुनियादी जरूरतें भी पूरी हों यह भी जरूरी नहीं है। हम जानते हैं और हम कहना भी चाहते हैं और कहने की कोशिश में हम 'सिम्बल्स' भी खोजते हैं, क्योंकि बिना उसके तो कोई उपाय नहीं कहने का। हम सिम्बल्स खोजते हैं। प्रतीक जो है वह हमारी चेष्टा है उसको बताने की, जो हमने जाना, लेकिन हमारी चेष्टा सफल नहीं हो पाती। कला असफल है, काव्य असफल है, मूर्ति असफल है, सब असफल है और **जितना बड़ा मूर्तिकार होगा उतनी बड़ी असफलता अनुभव करेगा और जितना बड़ा कवि होगा उतना असफलता अनुभव करेगा और जितना बड़ा संत होगा उतना असफलता अनुभव करेगा।** छोटा होगा तो उतनी असफलता अनुभव नहीं करेगा। अगर उधार अनुभव को दोहराना है तो बराबर शब्द कह सकते हैं; लेकिन आपका ही अगर अनुभव हुआ है तो आप पहली दफा पायेंगे कि कोई शब्द ही नहीं है, क्योंकि वह अनुभव आपका है और आप पहली दफा हुए हैं जमीन पर और कोई शब्द नहीं है, क्योंकि आप जैसा अनुभव किसी को कभी नहीं हुआ है। हाँ, अगर कोई उधार अनुभव हुआ है कि अगर स्त्री के चेहरे में आपको भी चाँद दिखा है, तो कालिदास से लेकर सब उसको कहते रहे हैं चांद देखने को। आप भी एक कविता बना सकते हैं, जिसमें स्त्री के चेहरे में चाँद दिख जाय, लेकिन वह अनुभव बहुत अधूरा, बासा और 'सैकेण्ड हैण्ड' है। हजार हाथ से गुजरा

हुआ अनुभव है। आप कह पाते हैं और दूसरा भी समझ पाता है, क्योंकि वह सबका अनुभव है। लेकिन जितना अनुभव निजी होता जायगा और जितना गहरा होगा उतना निजी होगा। और परमात्मा का अनुभव चूंकि आत्यंतिक चरम अनुभव है, उससे गहरा कोई अनुभव नहीं है। वह नितांत निजी है, यानी वह पहली दफा आपको ही हो रहा है आपके जैसा, वैसा पहले कभी किसी को नहीं हुआ। उस गहराई में आप कोई शब्द नहीं पाते हैं और कोई सिम्बल नहीं पाते हैं, बनाने की कोशिश करते हैं। जब आप बनाने की कोशिश करते हैं तभी उपद्रव शुरू होता है, क्योंकि आप कहते हैं, समझा कुछ जाता है, आप बताते कुछ हैं और सुना कुछ जाता है और तब एक उपद्रव शुरू हो जाता है जो हजारों साल तक चलता है। जैसे कृष्ण की गीता है। अभी टीका चल रही है। उसका मतलब यह है कि जो उन्होंने कहा था वह अभी तक नहीं समझा गया। टीका की अब कोई जरूरत नहीं है। सैकड़ों-हजारों टीकाएं लिखी गयीं हैं और अभी टीकाएं लोग लिखे चले जा रहे हैं, यानी मामला यह है कि वे बेचारे महापुरुष जो बोले थे वह अभी तक उपद्रव में पड़ा है कि वे क्या बोले थे। इस पर टीका चल रही है कि वे यह बोले थे।

गांधी कहते थे, वे यह बोले; तिलक कहते, वे यह बोले; विनोबा यह कहते हैं। हजारों लोग बता रहे हैं कि वे क्या बोले थे। और मजा यह है कि जब वे बोले और हम नहीं समझ पाये, तो विनोबा या गांधी या तिलक के कहने से हम क्या समझेंगे? और उन पर टीकाएं चलेंगी कि तिलक बोले, उसका क्या मतलब है; और इसका कोई अन्त नहीं है। फिर भी शब्द से ज्यादा गहराई में दूसरे 'सिम्बल' पहुंचते हैं। जैसे, हो सकता है कि मैं शब्द में आपसे एक बात न कह पाऊं, लेकिन मैं उठूं और आपको गले से लगा लूं। और कोई बात कह नहीं सकता क्योंकि शरीर जो है, स्पर्श जो है वह शब्द से बहुत पुराना है। शब्द बहुत बाद की चीज है और मेरे शब्द और आपके शब्द अलग हो सकते हैं; लेकिन मेरे शरीर का स्पर्श और आपके शरीर का स्पर्श अलग नहीं हो सकता है। यह हो सकता है कि जो मैं शब्द में न कह सकूं और उठाऊं एक तंबूरा और नाचने लगूं और यह कहना चाहूं कि मैं बहुत खुश हूं और न कह पाऊं, क्योंकि आप पूछें कि खुशी यानी क्या? खुशी कैसी है आपको? तो शायद मैं नाचूं और मेरे नाचने से आपको खुशी की एक झलक मिल जाय, लेकिन फिर भी ये 'सिम्बल्स' ही हैं, फिर भी वह नहीं कह पाता हूं जो मैं कहना चाह

रहा हूं। मैं जब थक जाऊंगा और आपकी तरफ देखूंगा और आपकी ताली सुनूंगा, तो मैं समझूंगा कि आप कुछ समझे। मेरे बाह्य आयाम का थोड़ा-सा फल हुआ। लेकिन, जो मैं कहना चाहता था वह नहीं पहुंचा। मैं शायद उदास चला जाऊंगा, वह नहीं पहुंचाया जा सका, वह जो कहना था। नाच से भी, कला से भी, चित्र से भी कुछ कहने की कोशिश की गयी है, सब तरफ कोशिश की गयी है। मैं यह कह रहा हूं कि 'सिम्बल' से कहने की तो कोशिश की गयी है, लेकिन 'सिम्बल' असफल हो गये हैं यह हमें पूरा अब तक बोध नहीं हो पाया और सब 'सिम्बल' असफल हो गये हैं और मैं यह नहीं कह रहा हूं कि सिर्फ असफल ये सिम्बल हो गये हैं। मैं यह कहता हूं, सिम्बल असफल होने को बाध्य हैं। उसका कारण यह है कि 'सिम्बल रियलिटी' (प्रतीक वास्तविकता) तो नहीं है, कुछ और है। मैंने एक सूरज को ऊगते देखा सुबह और एक आनन्द से भर गया। फिर मैंने एक चित्र बनाया, कुछ रेखाएं खींची और एक सूरज बनाया। एक पेंटिंग बनाकर लाकर आपको दिखायी और आपसे कहा कि बड़ा ही आनन्द आया। आपने देखा, आपने कहा ठीक है और रख दी, क्योंकि आखिर रेखाएं, रेखाएं हैं; सूरज नहीं है और रंग, रंग हैं सूरज के रंग नहीं हैं और मैंने कितनी ही कोशिश की, तब भी एक छोटे से कागज पर मैंने जो खींच लिया है वह हजार मील दूर की ध्वनि है। वह, वह बात नहीं है जो वहां थी। कितना ही सफल हो जाय सिम्बल वह रियल्टी तो नहीं बनता। वह सूरज नहीं बन जायगा। यानी सिम्बल इसलिए असफल होने को बाध्य है कि उसकी पेंटिंग कभी भी सूरज नहीं बन पायेगी, वह सूरज नहीं बन सकती। हां, लेकिन एक खतरा है सिम्बल के साथ और वह खतरा भी काफी काम का है। वह खतरा यह है कि हो सकता है आप कभी घर के बाहर ही न निकलें, क्योंकि आप समझें कि पेंटिंग घर में लटकी है, तो सूरज घर में लटका है, बाहर जाने की जरूरत क्या है। घर में तो सूरज लटका हुआ है और आप उसी पेंटिंग से उलझे रह जायँ और सूरज को कभी न जान पायें। सिम्बल ने अब तक तो 'कम्युनिकेट' किया नहीं, लेकिन 'हिड्रेंस' डाल ली। गीता पकड़े बैठे हैं। वह सूरज घर का किताब वाला सूरज है। वह घर बैठा कुरान पकड़े बैठा है। कोई महावीर को, कोई बुद्ध को पकड़े बैठा है। यह सब लोग थे, क्योंकि महावीर हमारे लिए क्या हैं, सिर्फ सिम्बल। जो वह बोले, वही रह गया हमारे पास। कृष्ण हमारे लिए क्या हैं, वह जो बोले, अगर कृष्ण का बोला हुआ खो जाय

तो कृष्ण खो जायेंगे। न मालूम कितने महापुरुष खो गये जो कि नहीं बोले, या बोले और फिर नहीं पकड़ा जा सका, तो खो गये। सिम्बल पकड़ जाता है यानी जिन्होंने कोशिश की थी उन्होंने तो चाहा था कि इस प्रतीक के द्वारा आपको कुछ कह देंगे और कठिनाई ऐसी हो गयी कि अगर आज वह मुर्दा हैं, कहीं वापस लौट सकें तो पहला काम यह करेंगे कि आपसे धार्मिक ग्रन्थ-शास्त्र कैसे छुड़ा लें! क्योंकि सोचा तो, कुछ कह देंगे और कुछ कह तो नहीं पाये और ये लोग जा सकते थे खुद भी खोजने, तो यह भी नहीं गये, क्योंकि उन्होंने समझा कि हमारे पास तो उपलब्ध हो गयी है किताब।

कला असफल हो गयी है, दर्शन असफल हो गया है, शास्त्र असफल हो गये हैं, गुरु असफल हो गये हैं और असफलता का कारण यह है कि सत्य को प्रतीक कभी बनाया ही नहीं जा सकता। सत्य, सत्य है और आपको जानना है, तो आपको आमने-सामने खड़ा होना पड़ेगा। बीच में प्रतीक लानें का कोई उपाय नहीं है। लेकिन कम्युनिकेशन में प्रतीक आ जाते हैं, इसलिए 'कम्युनिकेशन' और 'रियलाइजेशन' अलग-अलग बातें हैं। कम्युनिकेशन एक काम भर अगर कर दे जो मेरी समझ है। आप मुझसे पूछ सकते हैं कि फिर मैं क्यों मेहनत कर रहा हूं, जब मैं मानता हूं कि बोल के कुछ कहा नहीं जा सकता, तो फिर मैं क्यों बोल रहा हूं। तो मेरा कुल कहना इतना है कि बोलने से केवल इतनी हालत पैदा की जा सकती है कि आपको एक दिन लगे कि बोलना 'एब्सर्ड' है, बेकार है। कुछ नहीं हुआ, न बोलने से कुछ हुआ, न सुनने से कुछ हुआ। इतने 'निगेटिव' अर्थ में ही कम्युनिकेशन का उपयोग है कि हम सिर खपाते रहें, खपाते रहें, फिर आपका भी सिर पक जायेगा और मैं कहूं, बकवास बन्द और आप कहें कि चुप हो जाइए, अब मुझे कुछ नहीं सुनना है। एक घड़ी ऐसी आ जाय और घबरा जायं और आप कहें कि नहीं जाना जा सकता है, तो शायद आप घर के बाहर निकल जायं, पेंटिंग को यहीं छोड़ जायं। वहाँ सूरज है। हमारे संवाद करने, न करने का कोई सवाल ही नहीं है।

रवीन्द्रनाथ के जीवन में एक बहुत अच्छा उल्लेख है। एक रात सौन्दर्य पर एक किताब पढ़ रहे हैं। रात दो बज गये हैं, पढ़ते-पढ़ते थक गये हैं, फिर क्रोध से किताब पटक दी है, दिया बुझा दिया है और फिर खड़े होकर नाचने लगे हैं, क्योंकि जब तक वे किताब पढ़ रहे थे, तब तक उन्हें पता ही नहीं था कि बाहर पूर्णिमा की रात है और जैसे ही किताब पटकी है और दिया बुझाया है, चांद की सब

किरणें भीतर भर गयी हैं। बजरे के अंदर जहां नाव पर वे थे और चांद बाहर था जब तक दिया भीतर जल रहा था। वह भीतर आ गये तो नाचने लग गये हैं और उन्होंने कहा, मैं भी कैसा पागल था, आधी रात गंवा दी, किताब पढ़ता रहा जानने की कि सौन्दर्य क्या है और सौन्दर्य बाहर खड़ा ही था और वह पूरे वक्त दरवाजे पर ठोकर दे रहा था कि तुम दिये को बुझाओ, तुम किताब बन्द करो, तो मैं आ जाऊं; लेकिन अब मुझे मिलने का उपाय नहीं। अगर मैं रवीन्द्रनाथ को मिल सकता, तो उनसे कहता कि हो सकता था कि सांझ आप सो गये होते और चांद फिर भी बाहर खड़ा रहता। आधी रात तक किताब पढ़ने में कम से कम एक विपरीत हालत पैदा की कि सब बेकार है, इससे कुछ समझ में नहीं आता। किताब पटक सके आप तो ही देख सके चांद। किताब तो नहीं बता सकी कि सौन्दर्य क्या है; लेकिन किताब को पटकना एक स्थिति है मन की, जिसके बिना हो सकता है सौन्दर्य न जाना जा सकता। यानी मैं यह कह रहा हूं कि दर्शन का एक ही उपयोग है कि वह इतना परेशान कर डाले कि एक दिन आप किताब पटक सकें। उस थकी मांदी, सर्वहारा दशा ने जब कोई मार्ग नहीं, कोई दिशा नहीं, कोई आशा नहीं तब शायद आपकी आँख उसको देख ले, जो है। वह तो है ही, उससे कोई सवाल नहीं। अगर मेरे कम्युनिकेट करने पर उसका होना निर्भर होता तो कोई खतरा था, यानी मेरे संवादित करने पर उसके होने में कोई फर्क नहीं पड़ता, वह है ही। खतरा तब है, जब कि हम ऐसा समझ कर चलें कि संवाद हो जाय। संवाद एक अर्थ में असंभव है, बौद्धिक संवाद तो असंभव है यानी वह असंभावना का ही नाम है। फिर क्या और कोई संवाद हो सकता है—और कोई संवाद नहीं और क्या संवाद करियेगा? हम चुप बैठ सकते हैं, लेकिन जब हम चुप बैठेंगे तो मेरे और आपके बीच बात नहीं होगी। जब हम चुप बैठेंगे तो मेरी भी जो रियलिटी है उससे बात होगी और आपकी भी रियलिटी से बात होगी। अगर इसको मैं ऐसा कहूं कि शब्द जो हैं वह हमें एक दूसरे की तरफ अभिमुख कर देते हैं, मौन जो है वह हमें सत्याभिमुख कर देता है। जब हम बातचीत करते होते हैं तो आप मेरी तरफ देखते हैं और मैं आपकी तरफ देखता हूं कि दोनों आपस में उलझे हुए हैं। जब शब्द बीच से खो जाते हैं तो न मैं आपकी तरफ देखता हूं और न आप मेरी तरफ देखते हैं, तब मजबूरी जो है उसको हमें देखना पड़ता है। एक घड़ी आनी चाहिए जिन्दगी में जब

सब व्यर्थ हो जाय। मगर यह आयेगी नहीं जब तक शब्द के साथ श्रम न चले, व्यायाम न चले।

प्रश्न : सत्य का स्वभाव है सच्चिदानन्द। ऐसा विवेकानन्द जी ने भी कहा है। वह सत्य नहीं है जिसमें सत् चित् आनन्द न हो।

भगवान श्री :

सत्य की कोई परिभाषा नहीं हो सकती। यह हमारी आकांक्षा की परिभाषा है, सत्य की नहीं। हमारी आकांक्षा है कि सत्य ऐसा हो सच्चिदानन्द हो—सत् भी हो, चित् भी हो, आनन्द भी हो—यह हमारी आकांक्षा है। यह आदमी की आकांक्षा है कि सत् दुख न हो, नहीं तो मर गये। यहां संसार दुख है और सत्य भी दुख है, मोक्ष भी दुख है तो फिर हम कहां जायेंगे। तो मोक्ष ऐसा हो जहाँ दुख बिल्कुल न हो, मोक्ष ऐसा हो कि जहाँ अज्ञान बिल्कुल न हो, ज्ञान ही ज्ञान हो। मोक्ष ऐसा हो जहां अंधेरा बिल्कुल न हो, प्रकाश ही प्रकाश हो। यह सच्चिदानंद जो है यह सत्य की परिभाषा नहीं है, यह हमारी आकांक्षा और है और हमारी आकांक्षाएं हमें बड़ी प्रीतिकर लगती हैं इसलिए जिस शास्त्र में यह लिखा है उस शास्त्र को भी हम बड़ा प्रेम करेंगे और अगर विवेकानंद यह कहेंगे तो वह भी बड़े गुरू हो जायेंगे। उसका कुल कारण इतना है कि हमारी आकांक्षाओं को तृप्ति मिल रही है। अगर कोई गुरू आये और कहे कि सत्य बड़ा दुखद है और एकदम अंधकारपूर्ण है और अज्ञान ही अज्ञान है तो आप कहेंगे कि आपकी क्या जरूरत है। आप यहां कैसे ? हम तो काफी अज्ञान झेल रहे हैं, काफी दुख झेल रहे हैं और मोक्ष में भी यही होगा, तो फिर तो कोई उपाय नहीं। हमारी आकांक्षाएं हैं ऐसी कि आत्मा अमर है, कभी न मरें, हमें सुख ही सुख हो, दुख न हो। लेकिन सत्य की यह परिभाषा नहीं है। मेरी तो अपनी समझ यह है कि जहाँ आनन्द होगा वहां दुख के भी बड़े नये आयाम होंगे, होने ही चाहिए। अभी जिस दुख को हम जानते हैं वह बहुत छिछला है क्योंकि जिस सुख को जानते हैं वह भी बड़ा छिछला है। असल में इनकी मात्रा बराबर होती है। जिस दिन आनंद इतना गहरा होगा कि रोयां रोयां कंप जायेगा, इस भूल में मत पड़ना कि उस दिन दुख भी उतना गहरा नहीं होगा, उस दिन दुख भी उतना ही गहरा होगा कि रोयां रोयां कंप जायगा। हमारी संवेदनशीलता बराबर बढ़ती है। एक आदमी को अगर सौन्दर्य का बहुत बोध हो तो उसे कुरूपता का भी उतना ही बोध हो

जाता है। यह असंभव है कि एक आदमी को सौन्दर्य का ही सिर्फ बोध हो जाय और कुरूपता का बोध न हो। एक साथ ही बढ़ेगा। अगर एक आदमी को स्वच्छ रहने का बड़ा आनन्द है तो उसे अस्वच्छ होने की पीड़ा बढ़ जायेगी उसी मात्रा में। लेकिन हमारी आकांक्षा चाहती है कि ऐसी दुनिया हो जहां अंधेरा न हो, रोशनी हो रोशनी हो। हालांकि भगवान हमारी आकांक्षाएं पूरी नहीं करता नहीं तो हम बड़ी मुश्किल में पड़ जायं। अगर रोशनी ही रोशनी हो तो रोशनी बहुत घबराने वाली हो जाय। रोशनी में भी सुबह जो हमें सुख मालूम पड़ता है उस सुख को पाने का अर्जन भी रात के अंधेरे में ही हमने किया है और सुबह जब किसी के प्रेम में आनन्द आता है तो वह किसी की घृणा में झेले गये दुख का भी उसमें हाथ है। यह अकेला नहीं है। सत्य तो इतना बड़ा होगा कि उसमें दुख भी होगा, आनन्द भी होगा, अंधेरा भी होगा और प्रकाश भी होगा और उसमें परमात्मा भी होगा और शैतान भी होगा। सत्य तो चूंकि पूरे को घेरेगा, उसमें अमरता भी होगी तो उसमें मृत्यु भी होगी, उसमें पूर्ण मृत्यु भी होगी। सत्य तो सब घेर लेगा जो है और हम जो हैं, पूरे को नहीं देखना चाहते हैं क्योंकि हम खुद ही घबराते हैं कि पूरा दिखायी न पड़े, क्योंकि पूरा दिखायी पड़ने का बड़ा एक और ही मतलब होगा।

अभी मैं बात कर रहा था। कोई आया तो मैंने उससे कहा कि आ जाओ। किसी ने पूछा कि आप दोनों बातें एक साथ कह रहे हैं—आओ भी और जाओ भी। तो मैंने उसको कहा कि जिन्दगी में तो दोनों साथ ही हैं, जहाँ आना है वहाँ जाना जुड़ा हुआ है। आने का मतलब ही है जाने की शुरुआत और जवान होने का मतलब है बूढ़ा होना और जन्म लेने का मतलब है मरने की तैयारी। पूरे सत्य को अगर हम देखने जायेंगे तो उसमें सब है अपनी पूर्णता में लेकिन हमारी न तो उतनी हिम्मत है कि हम उतनी पूर्णता को देख सकें, हम तो काटकर च्वाइस करेंगे। तो वह जो परिभाषाएं हैं वे सब हमारे चुनाव हैं, हमारी आकांक्षाएं हैं। अब ऋषि कहते हैं कि हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। अब इसमें ऋषि भगवान के खिलाफ बड़ी शिकायत कर रहा है। वह यह कह रहा है कि अंधकार क्यों? प्रकाश ही चाहिए। यानी वह कह रहा है कि तुमने बड़ी भूल की जो अंधकार दिया। सिर्फ प्रकाश चाहिए, मुझे तो प्रकाश की ओर ले चलो। सत्य तो अंधकार भी है और प्रकाश भी। वह जीवन भी है और मृत्यु भी, ये दोनों जो हमें विरोधी लगते हैं जब

हमें एक ही चीज के छोर दिखायी पड़ेंगे तभी हम जान पायेंगे कि क्या है और जब हम ऐसे विरोध को एक साथ जान पायेंगे तो हमारे चित्त के सब खण्ड विदा हो जायेंगे, फिर हमारी कोई आकांक्षा न रह जायेगी क्योंकि आकाँक्षा का कोई मतलब नहीं। फिर अंधेरा होगा तो हम जानेंगे कि यह प्रकाश के आने की तैयारी है और प्रकाश होगा तो हम जानेंगे कि यह अंधेरे की तैयारी है और दुख होगा तो हम जानेंगे कि आस पास कहीं सुख है और सुख होगा तो हम जानेंगे कि तैयार रहो, दुख आता है। वह हमारी तैयारी होगी और हम जानेंगे कि यह जीवन है, लेकिन अभिलाषाएं सुख देती हैं बहुत और धर्म के नाम पर बहुत कुछ तो हमारी मनोवांछाएं हैं, इच्छाएं हैं जो चलती हैं और दुखी हैं, पीड़ित हैं।

बर्टेन्ड रसल ने एक बहुत बढ़िया बात कही है। उसने कहा है कि अगर दुनिया में सच में सुख हो जाय तो धर्मगुरुओं का क्या होगा? क्योंकि दुखी लोग सुख की तलाश में निकलते हैं। अगर सच में दुनिया सुखी हो जाय तो कौन सुख, कभी आपने भी ख्याल किया है कि जब आप किसी क्षण में आनंद में होते हैं तो न तो क्यों उठता है कि दुनिया क्यों है, मैं क्यों पैदा हुआ, यह भगवान ने क्यों बनाया है इसको? नर्क है कि स्वर्ग है कि नहीं। कुछ क्यों नहीं उठता। जब आप आनंद में होते हैं तो सब स्वीकार होता है जो है वह है। उसके होने मे जरा भी कोई कहीं जरा सा प्रश्न भी नहीं लगाता। लेकिन जब आप दुख में होते हैं तब सब प्रश्न उठने शुरू हो जाते हैं और जब प्रश्न उठने शुरू हो जाते हैं तो उत्तर चाहिए। तो जो उत्तर हमारे मन में अनुकूल होते हैं उनको हम धर्म बना लेते हैं, सच्चे उत्तर का धर्म नहीं बन पाता, मनोनुकूल उत्तर का धर्म बन जाता है। और सच्चा उत्तर जरूरी नहीं कि मनोनुकूल हो क्योंकि आवश्यक नहीं है कि आपके मन के अनुकूल सत्य चलता हो। हां, सत्य के अनुकूल आप चाहें तो चल सकते हैं लेकिन सत्य को कोई बंधन आपके अनुकूल चलने का नहीं है लेकिन मनोनुकूल उत्तर धर्म बन जाता है। जो उत्तर हमारे मन को भा जाता है और लगता है कि ठीक है, हमारी तृप्ति कर दी। हमारा प्रश्न हमसे हल होता है। मैं नहीं कहता कि इन बातों में कुछ रस है और विवेकानंद की बात आपको अच्छी लगती है वह इसलिए नहीं कि सच है, वह इसलिए कि आपके मन के अनुकूल है। अनुकूल नहीं है तो अच्छी नहीं लगती है।

प्रश्न : क्या जीवन में केवल सुख ही सुख नहीं चाहा जा सकता ?

भगवान श्री :

यह हमने कल्पना कर ली है। लेकिन हमारी कल्पनाओं से कुछ हल नहीं होता है और हम कितने ही चाहें कि हम सुख-सुख को ही वरण कर लें और दुख को इन्कार कर दें, हम यह समझ ही नहीं पा रहे हैं कि सुख को वरण करने में दुख हुआ जा रहा है और ऐसे जैसे एक सिक्का है और मैं उसका एक पहलू फेंक देना चाहता हूं। अब मैं पागल हो जाऊंगा, क्योंकि मैंने एक ऐसा काम शुरू किया है जो पूरा हो नहीं सकता है। एक हिस्सा फेंक देना चाहता हूं एक सिक्के का और एक हिस्सा बचा लेना चाहता हूं। अब ज्यादा से ज्यादा इतना ही हो सकता है कि जिस हिस्से को मैं बचा लेना चाहता हूं उसे ऊपर कर लूं और जिसे फेंक देना चाहता हूं उसे नीचे कर लूं। बस इससे ज्यादा कोई सफलता नहीं मिल सकती लेकिन कितनी देर ऊपर नीचे करूंगा। जिसको मैंने नीचे किया है उससे थोड़ी देर में मैं ऊब जाऊंगा क्योंकि तब तक उसे देखता रहूंगा और बड़े मजे की बात है कि दुख कभी उतना उबाने वाला नहीं होता है जितना सुख उबाने वाला हो जाता है। असल में दुखी आदमी कभी बोर नहीं होता सिर्फ सुखी आदमी बोर होते हैं। बोरडम जो है वह सुखी आदमी का गुण धर्म है। इसलिए आप हैरान होंगे कि जितना जो दुखी होता है उतनी आत्महत्या कम होती है। लेकिन कम परेशान नजर आते हैं, कम चिन्ता घेरती है, क्योंकि दुखी आदमी को बोर होने की फुर्सत नहीं है। वह अपने काम में लगा हुआ है। बदलने में लगा हुआ है कि सिक्का को उल्टा कर लें। लेकिन जब सिक्का उल्टा हो जायगा तब क्या करियेगा। एक दफा दुख को नीचे दबा दिया और सुख को ऊपर कर लिया, फिर क्या करियेगा और अब अगर सिक्के को उल्टाया तो नीचे दुख है। तो जैसे ही एक आदमी सुखी हुआ कि उसकी मुसीबत शुरू हो गयी। देवताओं को अगर दुनिया में कोई दुख होगा तो बोरडम का होगा। मोक्ष में भी अगर कोई दुख होगा तो बोरडम का तो होगा और बोरडम इतनी हो गयी होगी कि मैं नहीं समझता कि मोक्ष में अब कोई एक भी बचा होगा, सब भाग गये होंगे। उनकी बोरडम की तो हम कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि जहाँ सुख बिल्कुल उपलब्ध हो वहां करियेगा क्या। वह तो दुख से लड़ने में रस है, सुख मिलता नहीं, उसके पाने की आकांक्षा में सारा मजा है और जब मिल जाता है तो थोड़ी देर बाद हम पाते हैं कि अब क्या करें। तब आप हैरान होंगे कि सुखी आदमी अपने हाथ से दुख भी खोजने लगता है। तो वह ऐसी तरकीबें करता है

जिनसे अब दुख आये।

एक फकीर हुआ नसरुद्दीन। उसकी कहानी कहता रहता हूं। वह एक गाँव के बाहर बैठा हुआ है। साँझ का वक्त है, अंधेरी रात है और एक आदमी आकर घोड़े से उतरा है। उस आदमी ने नसरुद्दीन के सामने एक बहुत बड़ी थैली रख दी और कहा कि इसमें करोड़ों के हीरे जवाहरात हैं और मैं इसे किसी को भी देने को तैयार हूं, मुझे जरा सा सुख मिल जाय। मैं गांव गाँव खोज रहा हूं, मुझे सुख नहीं मिल रहा है। मैं एकदम परेशान हो गया हूं, मैं मर जाऊं या क्या करूं? सब है मेरे पास, एक सुख नहीं है। तो किसी ने मुझसे कहा, एक फकीर है नसरुद्दीन उसके पास चले जाओ। तुम्हीं हो? मैं तुम्हारे पास आया हूं? फकीर खड़ा हो गया और उसने कहा कि मैं ही हूं। उसने कहा, तू सुख चाहता है? उस आदमी ने कहा, सुख चाहिए, सब खोने को तैयार हूं, एक क्षण के लिए भी सुख मिल जाय। उस फकीर ने इतनी बात पूछी और वह थैली लेकर फकीर भाग गया। वह आदमी चिल्लाया कि यह क्या कर रहे हो? मैं तो सोचता था तुम ब्रम्हज्ञानी हो, लेकिन जब वह नहीं रुका तो वह आदमी उसके पीछे भागा। गांव फकीर का तो जाना माना था। वह गली कूचे चक्कर देने लगा। गांव इकट्ठा हो गया है। वह चिल्ला रहा है कि मुझे लूट लिया, मैं मर गया, मेरी जिन्दगी खराब हो गयी। मेरी जिन्दगी भर की कमाई है उस थैली में और यह आदमी चोर निकला। यह ब्रम्हवादी नहीं है, इसे पकड़ो और मुझे बचाओ। मैं मरा। सारे गांव के चक्कर लगाकर फकीर उस जगह वापस आ गया और उसने थैली पटक दी और झाड़ के पास खड़ा हो गया। वह अमीर आदमी आया, उसने थैली छाती से लगायी और कहा, हे भगवान, धन्यवाद। उस फकीर ने कहा, कुछ सुख मिला? यह भी एक रास्ता है सुख पाने का। अब तुम्हारे लिए यही रास्ता बचा है। तुम्हारे लिए दूसरा रास्ता नहीं है, क्योंकि तुम क्या करोगे।

हम जो चाहते हैं, सुख ही सुख बच जाय, वह संभव नहीं है। अगर बच भी गया तो सुख भी दुख देने लगेगा। तब जिसको मैं कहता हूं, जो जीवन को उसकी सचाई में देखता है, आकांक्षाओं में नहीं। दो रास्ते हैं। एक तो मैं आकांक्षाओं से जीवन को देखने जाऊं। जब मैं कहता हूं, सुख ही सुख चाहिए तब मैं जीवन की फिक्र नहीं कर रहा हूं। मैं यह कह रहा हूं, मुझे चाहिए, लेकिन मैं यह नहीं पूछता कि जीवन में मेरी फिक्र है कुछ। मैं नहीं था और जीवन था और मैं रहूंगा, जीवन रहेगा और रत्ती भर कहीं कोई पत्ता नहीं हिलेगा, कोई लहर नहीं

कंपेगी। कहीं कुछ भी नहीं होगा। मेरे होने न होने से जीवन को क्या फिक्र है। मैं इधर दो क्षण के लिए हूं तो कहता हूं, ऐसा चाहिए, ऐसा चाहिए। जब मैं यह देखता हूं कि मैं नहीं था और सब था और मैं नहीं रहूंगा, सब होगा तब उचित है कि मैं कहूं कि क्या होना चाहिए। तो जब मैं देखूंगा कि क्या है तब मुझे पता चलेगा कि दुख और सुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और जब दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तो किसको बचाना और किसको छोड़ना। जब मैं राजी हूं, सुख आया तो सुख के लिए, दुख आये तो दुख के लिए और यह जो राजी होना है यह जो ऐक्सेप्टेबिल्टी है यह एक ऐसे आनंद में उतार देती है जिसका हमें कुछ भी पता नहीं है। वह आनंद दुख विरोधी नहीं है, वह आनंद दुख में भी रहेगा, वह आनंद सुख का पर्याय-वाची नहीं है क्योंकि सुख चला जायगा तब भी वह रहेगा। उसको आनंद शब्द कहने से भी थोड़ी भूल हो जाती है इसलिए जो और थोड़ी समझपूर्वक बुद्धि का प्रयोग किया तो बुद्ध ने आनंद का उपयोग नहीं किया, शांति का उपयोग किया क्योंकि आनंद में कहीं न कहीं सुख का ख्याल है। हम कितने ही उसको बचाने की कोशिश करें, आनंद में कहीं न कहीं सुख का भाव है। एक शांत मन रह जाता है—सुख हो या दुख हो, और वह तभी रह सकता है जब दोनों एक से स्वीकार हो गये हैं क्योंकि दोनों हैं और स्वीकार करने की चेष्टा हमें नहीं करनी है। मतलब अस्वीकार करने का कोई अर्थ ही नहीं है, यह हमें दिखायी पड़ जाय तो बात खत्म हो गयी ! लेकिन हम आकांक्षाएं आरोपित कर रहे हैं इसलिए हमने इस तरह के धर्म खड़े कर लिए हैं, गुरू भी खड़े कर लिए हैं जो हमारी आकांक्षाओं की तृप्ति के रास्ते बता रहे हैं। वे हमसे कहते हैं कि हम परम आनंद में पहुंचा देंगे, हम पहुंचाने की कोशिश करते हैं। हम कभी पूछते भी नहीं कि होने की आकांक्षा ही दुखी आदमी का लक्षण है और दुखी आदमी कैसे परम आनंदित हो सकता है? मंत्र पढ़ने से? इतनी सस्ती तरकीब काम कर सकती है कि परम आनंद मिल जाय, कि हम सोचते हैं कि परम आनंद मिल जायगा उपवास करने से, कि रात खाना न खाने से, सिगरेट न पीने, कि चाय न पीने से परम आनंद मिल जायगा। अगर इतना ही फासला है तो दुखी और परम आनंदित आदमी में कोई फर्क नहीं है, सिगरेट पान आदि का फर्क है, ऐसा कमजोरी का फर्क है कि कोई हिम्मत का आदमी जाना नहीं चाहेगा। वह सस्ता सा फर्क मोक्ष में और पृथ्वी पर अगर है कि मोक्ष में

लोग सिगरेट नहीं पीते, चाय नहीं पीते और सिनेमा नहीं देखते। इतना ही अगर फर्क है तो कौन मोक्ष जाना चाहेगा, इसका कोई मतलब नहीं रह गया। फर्क कुछ ज्यादा रेडिकल होना चाहिए। यह कोई फर्क ही नहीं होगा। फर्क का मतलब है कि हम जहां हैं उसमें हमारी दो तरह की जिन्दगी हो सकती है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाली और यथार्थ को स्वीकार करने वाली। बस दो तरह की जिन्दगी होती है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाला आदमी है और यथार्थ को स्वीकार करने वाला है। आकांक्षाओं को आरोपित करने वाला चाहे, कुछ भी करे, दुख में रहेगा। ऐसा नहीं है कि जो आकांक्षाओं को आरोपित नहीं करता उसको दुख नहीं आयेगा। यह मैं नहीं कह रहा हूं। दुख तो आयेंगे लेकिन वह दुख में नहीं रहेगा।

आकांक्षा है ही। हम क्या कर रहे हैं? हम उनको भी नहीं देख रहे हैं। उनके अनुकूल जगत को देखने की कोशिश में लगे हैं। आकांक्षाएं तो रियलिटी का हिस्सा हैं। वह तो यथार्थ है कि मुझमें है और मुझमें है और मुझमें इच्छा है कि मैं अमर रहूं, यह मुझे जानना चाहिए लेकिन बजाय इसके जानने के मैं वह शास्त्र पकड़ लूंगा जिसमें लिखा है कि हां अमर रहना है, पक्का है और जो हमारे पक्ष में है वह अमर रह जायेंगे, जो हमारे पक्ष में नहीं है वह मर जायेंगे। मैं यह कह रहा हूं कि आदमी दुखी है इसलिए सुख खोजना चाहता है और चूंकि सुख खोजता ही रहेगा और कभी यह न देखेगा कि सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं इसलिए कितना ही सुख खोजें दुखी रहेंगे और सुख खोजते रहेंगे। जो कह रहा हूं वह यह कह रहा हूं कि मूलतः उसको दिखायी नहीं पड़ रहा है कि सुख की खोज नहीं है। एक बुनियादी भूल हो रही है। वह भूल यह हो रही है कि वह दुख को अस्वीकार करके सुख को खोज रहा है, जबकि सुख दुख का ही हिस्सा है—यानी मैं जन्म खोज रहा हूं और मरना नहीं चाहता, जवानी खोज रहा हूं और बूढ़ा नहीं होना चाहता, तो बड़ी मुश्किल बात है। जवान होना चाह रहा हूं तो बूढ़ा होना उसका हिस्सा ही होगा, वह उतरती हुई जवानी का नाम है। पूर आ गया तो उतरेगा ही, सुबह हो गयी तो सांझ होगी। अब सुबह तो मैं खोज रहा हूं और सांझ से बचना चाहता हूं और जब मैंने सुबह खोजी तभी मैंने सांझ का इन्तजाम कर दिया, अब सांझ होगी। अब अगर मैं सिर्फ सुबह को ही खोजूं तो फिर शाम को दुख होगा और रात भर फिर सुबह की खोज करूंगा, फिर सुबह आगीये

और फिर सांझ की तैयारी शुरू होगी, मैं फिर दुखी होऊंगा और मजा यह है कि न तो आपकी खोज से सुबह आ रही है, न सांझ हो रही है। सुबह अपने आप आ रही है, सांझ अपने से आ रही है। आपकी जो परेशानी है वह यह है कि एक पर आप आरोप लगा रहे हैं कि बस यही रह जाय और एक को आप कह रहे हैं कि यह न हो और उनको दोनों से आपसे कोई मतलब नहीं है कि आप हो या नहीं हो, वह होते रहेंगे।

जिन्दगी में सुख और दुख घूम रहे हैं, सब घूम रहा है। आप उसमें जब चुनाव करने लगते हैं कि हम यह चुनकर रहेंगे तब आपने दुख शुरू कर दिया, वह दुख का रास्ता हो गया। जब दुखी हो गये तब और जोर से सुख खोजेंगे और जितने जोर से सुख खोजेंगे उतने जोर से दुखी होंगे। तब एक वीसियस सर्किल है जिससे बचाव मुश्किल हो जायगा, इसको देखना पड़ेगा और हमारी क्या तकलीफ है कि अगर हम पूछते भी हैं कि हम दुखी क्यों हैं तो हम कुछ कारण खोज लेना चाहते हैं दुख के। हमने कोई बुरा काम किया होगा इसलिए दुखी हैं, कि हमने कुछ पाप किया होगा इसलिए दुखी हैं। दूसरा आदमी सुखी है उसने कोई पुण्य किया होगा। सुखी और दुखी होना न तो पुण्य और पाप से संबंधित है, सुखी और दुखी होना हमारी आकांक्षाओं के आरोपण से संबंधित है, कितने जोर से आरोपित करने की आकांक्षा में रहे लेकिन किसी दिन डिसइलूजनमेंट आता है। पता चलता है कि कुछ आरोपण से नहीं होता है—सुबह आती है और आती है, सांझ आती है और आती है। तब भी सुबह आयेगी कुछ ऐसा नहीं है कि नहीं आयेगी, तब भी सांझ आयेगी लेकिन दंश चला जायगा पीड़ा चली जायगी और तब जितनी सुबह ठीक से जी ली है, कोई कारण नहीं कि सांझ ठीक से क्यों न जी लें। मामला यह है कि ठीक से जिसने सुबह को पूरी तरह जी लिया है वह तो खुद ही दोपहर होते-होते कहेंगे कि अब सांझ हो जाय। जो आदमी ठीक से जवान रह लिया है, उसके भीतर बुढ़ापे की आकांक्षा आ जायेगी। जो आदमी ठीक से जी लिया है वह मरना भी चाहता है।

नीत्से ने बहुत अच्छी बात कही है। उसने कहा है कि जब फल पक जाता है तो गिरना चाहता है। एक दफे पक भर जाय और जब फल पक जाता है तो गिरना ही चाहता है। सिर्फ कच्चे फल घबराते हैं कि कहीं गिर न जायं और चूंकि हम जिन्दगी भर कच्चे रह जाते हैं इसलिए मरने से डरते हैं। अब इस तरह चक्कर पर चक्कर पैदा होते चले जाते हैं। मरने से डरते हैं तो उस सिद्धांत को

पकड़ते हैं जो कह दे कि मरोगे नहीं। मैं नहीं कह रहा हूं कि मर जायेंगे आप, न मैं यह कह रहा हूं कि हम अपनी आकांक्षाएं आरोपित करके जो है उसे जानने की फिक्र कर लें तो बात पूरी हो जायगी नहीं तो नहीं पूरी होगी।

प्रश्न : व्यक्ति के तल पर तो यह ठीक है कि हम स्वीकार कर लें, लेकिन समाज के तल पर कैसे स्वीकार लें ?

भगवान श्री :

गरीबी है, बीमारी है, दुख है, शोषण है उस सबमें भी स्वीकार कर लें। यह बहुत बढ़िया बात है और मैं इधर जितना सोचता हूं, बहुत अजीब अनुभव करता हूं। पहली बात तो यह है कि यह कंट्राडिक्टरी दिखायी पड़ेगा लेकिन ऐसा है ? **जो व्यक्ति स्वयं के तल पर सुख-दुख को स्वीकार नहीं करता वह समाज के तल पर सब बीमारियों को स्वीकार करने वाला होता है। जैसे हमारा मुल्क है।** हमने व्यक्ति के तल पर सुख-दुख कभी स्वीकार नहीं किया है। हम मोक्ष की खोज निरंतर कर रहे हैं जहां सुख-दुख से छुटकारा हो जाय लेकिन समाज के तल पर हमने सब स्वीकार कर लिया है। अगर यह बात दिखायी पड़े तो इससे उल्टा भी सत्य है कि **जो व्यक्ति स्वयं के तल पर सब स्वीकार कर लेगा वह समाज के तल पर तो कुछ स्वीकार नहीं करेगा।** जो स्वयं के तल पर सब स्वीकार कर लेगा वही क्रांतिकारी हो सकता है क्योंकि क्रांतिकारी होने में भी दुख झेलने की संभावना है निरंतर, क्योंकि क्रांति का सुख तो किसी और को मिलेगा। क्रांति का सुख क्रांतिकारी को तो मिलता नहीं। तो क्रांति सिर्फ वही कर सकता है जो दुख को स्वीकार कर सकता है। जब एक व्यक्ति सब तरह के सुख-दुख में जैसा है वैसा स्वीकार कर लेता है तो चेष्टा नहीं करनी पड़ती है उसे कि वह समाज के तल पर अस्वीकार करे। न उस व्यक्ति का सहज वर्तन यह हो जाता है कि समाज के तल पर वह स्वीकार नहीं कर सकता है। यानी मैं यह नहीं कह रहा हूं कि वह स्वीकार नहीं करेगा या नहीं करना चाहिये, न ऐसा वर्तन हो जाता है। जो व्यक्ति स्वयं के तल पर टोटल एक्सप्टेबिलिटी में जीता है वह समाज के तल पर टोटल रिजेक्शन में जीता है और जो व्यक्ति समाज के तल पर स्वीकार में जीता है वह अपने तल पर रिजेक्शन में जीता है, और जो अपने तल पर कहता है, मैं यह दुख में हूं, यह नहीं सुनूंगा, यह नहीं करूंगा, वह समाज के तल पर सब स्वीकार कर लेता है। उसका कारण है कि जो व्यक्ति,व्यक्ति के लिए सब कुछ करने की चिन्ता में रत

रहता है उसके लिए समाज का बोध ही पैदा नहीं होता है, यानी समाज की जो धारणा है, कांसेसनेस है वह उसको पैदा होती है जो व्यक्ति के तल पर लिपट गया यानी अब इधर कुछ करने का मामला बचा नहीं, इधर बात खत्म हो गयी, इधर मैंने मान लिया है कि जो है, है। तब मैं क्या करूंगा, आखिर मैं कुछ तो करूंगा। व्यक्ति के तल पर तो करने से मुक्त हो गये। तो वह जो सृजन की, निर्माण की, विध्वंस की ऊर्जा जो भी है मेरे पास वह जायेगी कहां, वह कहीं सक्रिय हो जायेगी। व्यक्ति के केन्द्र पर जहां ऊर्जा का काम समाप्त हो गया है वहां वह समाज के चारों तरफ फैलकर काम में लग जाते हैं। ऐसा नहीं है कि वह लगाता है, यह मैं नहीं कह रहा हूं। हां, इट हैपन्स और अगर सारी ऊर्जा इसी में लगी हुई हो कि मेरा अगला जन्म कैसे शुद्ध रहे और मैं स्वर्ग कैसे जाऊं, मैं पुण्य कैसे करूं और मैं पाप से कैसे बचूं और यह खाऊं कि न खाऊं, यह पिऊं कि न पिऊं। अगर सारी चेतना यहां उलझी है तो समाज की तो धारणा ही पैदा नहीं होगी। तो हमें पता भी नहीं चलता है कि हमारे अलावा भी कोई है। जो कौम, जो व्यक्ति, जो समाज ऐसा व्यक्तिवादी होगा वह तो यहां तक कहेगा कि न तो तुम्हारी कोई पत्नी है, न तुम्हारी कोई मां है, न तुम्हारा कोई पिता है, न कोई भाई है, न कोई बेटा है, यह सब भ्रम है। हो तो तुम्हीं सब सत्य, बाकी सब भ्रम है, सब माया है। इससे तुम बचो, इसके तुम चक्कर में मत पड़ जाना। न कोई मौत में साथ देंगे, न कोई पुण्य में साथ देंगे, न पाप में साथ देंगे। तुम अकेले हो निपट, अपनी फिक्र करो। इसकी भी फिक्र मत करना कि औरत अगर भूखी मर रही हो तो मर रही है, वह अपने पिछले जन्म का पाप का फल भोग रही है। तुम्हारा क्या लेना-देना है। तुम्हारा बच्चा अगर सड़क पर भीख मांग रहा है तो मांग रहा होगा क्योंकि उसको मांगनी पड़ेगी, उसके अपने कर्म फल हैं, तुम अपनी फिक्र करो। यह जो व्यक्तिवादी दृष्टि थी अगर कोई सब स्वीकार कर ले तो व्यक्ति रह ही नहीं जाता। अगर गौर करें वह जो ईगो है व्यक्ति की वह पैदा होती है रेजिस्टेंस से। वह जितना मैं लड़ता है, यह नहीं चाहिए और यह चाहिए इसी के संघर्ष में मेरा मैं पैदा होता है कि मैं हूं। च्वाइस मैं पैदा करती है, च्वाइसलेस इगो नहीं हो सकती है। फिर वह बचने का उपाय नहीं रह जाती है। मैं हूं, इसका क्या मतलब है। सुबह सूरज निकलता है, सांझ ढलता है। मैं कहां हूं। यानी मैं कहता हूं सुबह ही होनी चाहिए

और सांझ नहीं। आठ दस घंटे तो सूरज को ढलने में लगेंगे। आठ दस घंटे मैं अपने मैं को मजबूत करूंगा कि अभी तक नहीं ढलने दिया, अभी तक सूरज को रोके हुए हूं, अभी तक सुबह है। जब ढल जायगा तब मैं सोचूंगा जरूर कि पिछले जन्मों का कर्मों का फल बाधा डाल रहा है—और सूरज अपने आप ढल रहा है और अपने आप ऊग रहा है। उससे कुछ लेना देना नहीं है। इधर मेरी इगो मजबूत होती चली जायगी लेकिन जब मैंने मान लिया कि ऐसा हो रहा है तब अचानक मेरी सारी ऊर्जा और सारी शक्ति चारों तरफ फैलकर काम करने में लग जाती है। यानी मेरी दृष्टि में क्रांतिकारी पैदा होता है सर्व स्वीकार से और उल्टा लगता है क्योंकि क्रांतिकारी निषेध करता है। और जिन्दगी के दो हिस्से हैं जिसको हम विधायक और निषेध, निगेटिव और पोजीटिव कहें। अगर मैं अपने तईं पोजीटिव हूं तो समाज की तरफ निगेटिव रहूंगा क्योंकि वह दूसरा हिस्सा है, क्योंकि अगर मैं अपनी तरफ निगेटिव हो गया तो समाज की तरफ पोजीटिव हो जाऊंगा। वह मेरा दूसरा हिस्सा है, मैं कहीं एक हिस्सा रहूंगा। अगर समाज को अच्छा करना हो तो व्यक्ति के तल पर स्वीकृति होनी चाहिए और समाज को अगर सड़ाना हो तो व्यक्ति के तल पर अस्वीकृति होनी चाहिए इसलिए मेरी बात में निरंतर विरोध रहता है। मुझे कई लोग आकर कहते हैं कि आप सुबह के ध्यान में सिखाते हैं सब स्वीकार कर लो और सांझ की सभा में कहते हैं कि सब अस्वीकार कर लो। अब मैं क्या करूं? सुबह सूरज ऊगता है, सांझ ढलता है, इसमें मैं क्या कर सकता हूं। अब सूरज से हम नहीं कहते कभी जाकर कि सुबह ऊगते हो, सांझ ही ढलते हो। विरोध है दोनों में। सुबह ऊगते हो तो सांझ ढलते क्यों हो? नहीं, सुबह मैं यही कहता हूं कि स्वीकार कर लो, सांझ यही कहता हूं कि अस्वीकार कर लो। वह दोनों ही जिन्दगी के हिस्से हैं।

एक और सवाल किसी ने पूछा है, इसको आखिरी मान लें। पूछा है, मानव आज रुग्ण है और मैं यह मानता हूं कि जब मनुष्य पैदा हुआ था करोड़ों वर्ष पहले तब आदमी अवश्य ही स्वस्थ रहा होगा। तब फिर मनुष्य का वह कौन सा अचेतन मन है जिसने बीमारी के जंतुओं को आने दिया और वह जंतु और वह बीज कौन से हैं जिसने मनुष्य को अमानवीयता की शुरुआत होने दी। ऐसी सब कल्पनाएं हैं। असल में कई करोड़ों वर्ष पहले आदमी सुखी था ऐसे ख्याल में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है और कोई आदमी को दुखी होना अनिवार्य

है ऐसी भी कोई बात नहीं है। कुछ लोग समझ लेते हैं, वे सदा सुखी हैं इस अर्थ में कि वे दुख को भी स्वीकार कर लेते हैं। जो नहीं समझते हैं वे सदा दुखी हैं इस अर्थ में कि वे दुख के अस्वीकार में ही दुखी होते चले जाते हैं। और ऐसा नहीं है कभी कि सारी मनुष्यता सुखी थी और सारी मनुष्यता कभी दुखी हो गयी है। और ऐसा भी नहीं है कि कभी स्वीकार था और अब सब अस्वीकार हो गया है। ऐसा कभी नहीं था। हर युग की अपनी बीमारियां होती हैं, अपने दुख होते हैं। बदल जाते हैं। नये युग नयी बीमारियां पैदा कर लेते हैं, नये दुख पैदा कर लेते हैं लेकिन सदा दुख है, सदा बीमारी है, सदा परेशानी है और सदा रहेगी। हम लड़ते रहेंगे और एक तरफ से बचायेंगे और दूसरी तरफ से पैदा हो जायगा। अभी लुइचसा व वैज्ञानिकों ने इतनी मेहनत की, अब अगर लुइचसा लौट आये तो शायद घबरा जायगा, क्योंकि उसने आदमी को बचाने की कोशिश की कि बच्चे मर न जायें। अब बच्चे ज्यादा हो गये हैं, अब उन्हें पैदा न होने दें और पैदा हो जायं तो उनको मारने का उपाय करें। तो भ्रूण हत्या के लिए और गर्भपात के लिए विचार करना पड़ता है और कोई आश्चर्य नहीं है कि अगर संख्या बढ़ती चली जाय तो जिस तरह हम जन्म निरोध की बात कर रहे हैं उस तरह हम एक उम्र के बाद बूढ़े आदमी को मारने के लिए मजबूर करेंगे, यह दूसरा हिस्सा है उसका। यह होगा। अगर यह रुकता है मामला, अगर हम बच्चों को नहीं रोक पाते हैं, नहीं रोक पा रहे हैं तो दूसरा उपाय एक ही है कि जैसे हम अट्ठावन में पचपन की आयु में रिटायर करते हैं, हम सत्तर साल में कहेंगे कि जीवन से सब रिटायर हो जायें, क्योंकि बच्चे आये चले जा रहे हैं और अब कोई बचाव का उपाय नहीं है। अब वैज्ञानिक, जिसने कि बीमारियां बचायीं और दस बच्चों में से आठ बच्चे मर जाते थे उनको बचा लिया, अब बड़ी झंझट की बात हो गयी। अब कौन कहे कि वह ठीक हुआ क्योंकि अब हमको आठ मारने पड़ेंगे या रोकने पड़ेंगे या कुछ करना पड़ेगा। इधर से हम इन्तजाम करते हैं, उधर से कुछ बिखर जाता है, यानी मेरा मानना यह है कि पूर्ण इन्तजाम कभी नहीं हो सकता क्योंकि पूर्ण इन्तजाम का कोई मतलब ही नहीं हो सकता। हम हमेशा ही एक तरफ इन्तजाम करते हैं, दूसरी तरफ ठीक उसके विपरीत चीज खड़ी हो जाती है क्योंकि जीवन जो है वह सदा विपरीत को पैदा कर लेता है इसलिए संतुलन में, अगर तौल हम कभी खोज सकें तो बराबर इतना ही रहेगी जितनी कभी थी। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ेगा। यानी यह हो सकता

है कि एक आदमी के पास आज फिएट कार है और आज से हजार साल पहले उसके बाप के पास बैलगाड़ी थी। बगल वाले के पास एक रथ था, अभी बगल वाले के पास एक इम्पाला है। दोनों का फासला उतना ही है जितना बैलगाड़ी और रथ का था, जितना फिएट और इम्पाला का है। वह जो अनुपात है वह उतना का उतना ही खड़ा है। रथ वाले को देखकर जितना बैलगाड़ी वाला दुखी होता था उतना इम्पाला वाले को देखकर फिएट वाला दुखी होता है। इम्पाला आ गयी, बैलगाड़ी हट गयी है, रथ हट गया है, लेकिन वह जो मामला है वह अपनी जगह खड़ा है। अनुपात वही है और अनुपात में बड़ी भूल हो जाती है। आपके पास दस रुपये हैं और मेरे पास सौ रुपये हैं तो आप गरीब हैं और मैं अमीर हूं। कल आपके पास सौ हो जाते हैं, मेरे पास हजार हो जाता है, फासला उतना ही होता चला जाता है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। मेरी अपनी समझ यह है कि जिन्दगी जैसी सदा थी वैसी ही है, उसके रूप बदलते हैं, आकार बदलते हैं। सब मामला वैसे ही हैं। उस सारे मामले में इतना ही फर्क पड़ सकता है कि कोई व्यक्ति इसको स्वीकार करे या अस्वीकार करे—और उस दिन भी वही था और आज भी वही है। उस दिन जो बैलगाड़ी वाला था अगर उसने स्वीकार कर लिया होता कि अच्छा है कि तुम्हारे पास रथ है, हमारे पास बैलगाड़ी और चल पड़ा होता अपनी बैलगाड़ी में तो जितना सुखी हो जाता, उतनी आज फिएट वाला इम्पाला वाले को देखकर, कि अच्छा तुम्हारे पास इम्पाला है, हमारे पास फिएट है, चल पड़ता है, उतना ही वही रस उपलब्ध हो जायेगा जो उसको हुआ था वह उसको उपलब्ध हो जायगा। जिन्दगी वैसी ही है, सदा वैसी है। रुख क्या हम लेते हैं इस पर निर्भर करता है और दो तरह के रुख हैं जैसा मैंने कहा—एक तो है कि हम निरंतर आकांक्षाओं को आरोपित करते चले जायें और एक ही कि जो है उसे हम जान लें, उसे हम पहचान लें, हम देख लें। और जैसे ही हम उसको देखते हैं, अनिवार्यरूपेण उसकी स्वीकृति हो जाती है क्योंकि सवाल ही नहीं इसको अस्वीकार करने का। ऐसे स्वीकृत उपलब्ध व्यक्ति को ही मैं धार्मिक कहता हूं और जब इतनी स्वीकृति होती है तो शाँति अपने आप भर जाती है और उस शांति में हम बहुत कुछ देख पाते हैं जो हमने अशाँति में कभी भी नहीं देखा था। और पहली बात आपको दोहरा दूं अंत में कि उस शांति में जो हमें दिखायी पड़ता है वह कम्युनिकेबल नहीं है, उसको कहा नहीं जा सकता।

उस शांति में हम कुछ जानते हैं जो कि शब्द में नहीं बंधता है। तो तड़प सकते हैं, परेशान हो सकते हैं, चिल्ला सकते हैं मगर उससे कुछ होता नहीं। हाँ इतना ही हो सकता है शायद हमारी तड़प को, पीड़ा को समझाने की कोशिश को कोई पकड़ के सोचे जरूर इस आदमी ने कुछ देखा है। जैसे एक गूंगा आदमी आ जाय और हमारे में चिल्लाने लगे, जोर से हाथ पैर पटकने लगे और बताने लगे तो हमें कुछ समझ में तो न आये लेकिन इतना समझ में आ जाय कि इस आदमी को कुछ हुआ है और अगर हाथ पकड़ के बताने लगे बाहर या कहीं ले जाने लगे तो शायद हम सोचें चलो देख लें, इस आदमी ने कुछ देखा है। कुछ कम्युनिकेट तो वह नहीं कर पाये लेकिन इतना कम्युनिकेट कर दे कि कम्युनिकेट नहीं कर पा रहा हूं और कुछ है। बस इतना अगर हो जाय तो शायद हम चले जायं, इतनी ही मेरी चेष्टा है। उससे ज्यादा मेरा भरोसा नहीं है। यानी मैं शब्द का विश्वासी नहीं हूं, संवाद का विश्वासी नहीं हूं, बुद्धि का विश्वासी नहीं हूं लेकिन मेरे साथ दिक्कत इसलिए होती है कि मैं दिन रात तो समझाता हूं कि विचार करो, बिना विचार के मत मानो, विश्वास मत करो और फिर मैं कहता हूं कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूं और मैं यह सब इसलिए कहता हूं कि इसको थका डालो बुद्धि को, खूब सोच लो, खूब तर्क कर लो, आरगू कर लो और यह थक जाय। एक दफे यह थक जाय और गिर जाय, तुम इसके बाहर हो जाओ, सांप की केंचुल की तरह पड़ी रह जाय और सांप बाहर निकल जाय और यह निकलेगी नहीं अगर विश्वास कर लिया क्योंकि वह फटेगी नहीं। यह निकलेगी नहीं अगर किसी को आस्था कर लें तो। क्योंकि यह थकेगी नहीं यह निकलेगी नहीं अगर आस्था कर लिया तो क्योंकि इसका थकना जरूरी है इसके निकल जाने के लिए। एक तो वह विश्वास है जो हम बुद्धि का बिना उपयोग किये ही पकड़ लेते हैं। वह बिलो इन्टलेक्ट है और एक वह श्रद्धा है जो बुद्धि के थकान पर उपलब्ध होती है बियोन्ड इन्टलेक्ट है और दोनों बिल्कुल अलग बातें हैं मगर दोनों एक सी मालूम पड़ सकती हैं। इसलिए कभी कभी महाज्ञानी महामूढ़ मालूम पड़ सकता है इसमें कोई ऐसी कठिनाई नहीं क्योंकि वह दोनों छोर हैं, एक बुद्धि के नीचे है, एक बुद्धि के पार है।

● संकलन : *अरविन्दकुमार*, जबलपुर

भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता पर भगवान श्री की ज्वलंत जीवन-दृष्टि

...सारे मुल्क में कहा जा रहा है कि चरित्र का ह्रास हो गया है। पहले चरित्र को ठीक करो तब सृजन होगा, तब संपत्ति आयेगी। जब सवाल उठता है कहीं भी कि भ्रष्टाचार है, कहीं भी कि विध्वंस है, तो लोग कहते हैं चरित्र नहीं है। लेकिन मैं आपसे कहना चाहता हूं— गरीबी में चरित्र पैदा हो भी नहीं सकता, होता भी नहीं। चरित्र का आयाम परम विलास है, सुविधा संपन्नता उसकी मूलभूत शर्त है, दरिद्रता चरित्रहीनता की मूलभूत शर्त है। गरीब का जीवन चारों ओर से उसे कोंचता है, दबाता है और चरित्रहीन होने को मजबूर हो जाता है। अब हम यह कहते हैं कि जब तक चरित्रहीनता न मिटेगी तब तक तो कुछ भी नहीं मिट सकता। लेकिन चरित्रहीनता कैसे मिटेगी? इसलिए मैं कहता हूं चरित्र की बात छोड़ दें गरीबी मिटाने की चिन्ता में लगें और गरीबी जिस दिन मिट जाएगी उस दिन चरित्रहीनता मिट जायेगी। चरित्रहीनता मिटने से गरीबी मिटनेवाली नहीं है क्योंकि चरित्रहीनता ही मिटने वाली नहीं है। गरीबी मिटायें तो चरित्र का तल ऊपर आना शुरू होता है।